चार सांस्कृतिक
एकाङ्की नाटकों
का
सङ्कलन
चतुर्युग
नाटककार
• डा॰ रामकुमार वर्मा
• सेठ गोविन्द दास
• उदयशङ्कर भट्ट
• हरिकृष्ण प्रेमी
सम्पादक
प्रभात शास्त्री

चतुर्युग

ऐतिहासिक
चार एकाङ्की
नाटकों का संग्रह

उत्तर प्रदेश की हाईस्कूल
परीक्षा के लिए सहायक
पाठ्य-पुस्तक

प्रभात शास्त्री
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

प्रकाशक :
साहित्यकार-संघ
दारागंज, इलाहाबाद-६

मूल्य : दो रुपये पचीस पैसे

तीसवाँ संस्करण, सन् १९७४

मुद्रक :
विक्रम प्रिन्टर्स,
४४७, शंकरलाल भार्गव रोड,
कीटगंज, इलाहाबाद - २११००३

दो शब्द

उपन्यास, कहानी, कविता और समालोचना साहित्य के समान हिन्दी में एकांकी नाटकों का निर्माण भी बड़ी तेजी से हुआ है । इस समय हिन्दी में दर्जनों सफल एकांकी लेखक हैं । एकांकी के प्रचार, प्रसार और प्रणयन में रेडियो से भी बड़ी सहायता मिली है। नाटक की इस शैली का अंकुर संस्कृत में भी था। महाकवि भास का 'कर्णभारम्' नाटक इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस नाटक का अभिनय करने में पचीस मिनट से अधिक समय नहीं लगेगा ।

हिन्दी में एकांकी नाटकों के अनेक संग्रह प्रकाशित हैं और उनमें कई उच्चकोटि के हैं किन्तु अभी तक ऐसा एक भी एकांकी संग्रह नहीं देखने में आया, जिसके अनुशीलन से विद्यार्थियों के हृदय में भारतीय संस्कृति और प्राचीन इतिहास के प्रति प्रेम जागरित हो। प्रस्तुत संग्रह इसी लक्ष्य से तैयार किया गया है। इस संग्रह में चार नाटक हैं चारों नाटक हिन्दी के ख्यातनामा सिद्धहस्त कुशल नाटककारों की कमनीय कृतियाँ हैं। पहले नाटक में शकारि वीर-विक्रमादित्य की पवित्र कथा हैं। दूसरे नाटक का कथानक भारतीयता के लिए सदा युद्ध करनेवाले मराठों के इतिहास से सम्बन्धित हैं। तीसरे नाटक की कहानी विश्व-कवि कालिदास की गाथा पर अवलम्बित है। चौथे नाटक का अध्ययन करने से छात्रों के सामने राजपूत-कालीन वीरता के इतिहास का जीता-

जागता चित्र खड़ा हो जाता है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-संसार में इस एकांकी-संग्रह का स्वागत होगा। प्रस्तुत संग्रह में जिन नाटककारों ने अपने नाटक लेने की अनुमति दी है, मैं उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

कवि-कुटीर
दारागंज, प्रयाग

प्रभात मिश्र

संशोधित; सोलहवाँ संस्करण

प्रस्तुत संस्करण माध्यमिक शिक्षा-परिषद् उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद के पत्रांक आई० वी०। पुस्तक। ए (१) ९६४-४३२ दिनांक ४।७।६१ के अनुसार संशोधित रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

अध्यापकों से अनुरोध है कि वे अपने छात्रों को प्रस्तुत संशोधित संस्करण ही पढ़ने के लिए प्रेरित करें।

कवि-कुटीर
दारागंज, प्रयाग।
सन् १९६२

प्रभात मिश्र

राष्ट्रीय-गान

जनगण–मन–अधिनायक जय हे, भारत भाग्यविधाता ।
पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविड़ उत्कल वंग,
विन्ध्य हिमाचल, यमुना गंगा, उच्छल जलधि तरंग,
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष मागे,
गाहे तव जय गाथा ।
जन–गण–मंगलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता ।
जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे ।।

मुनियों ने कहा है कि नाटक तो देवताओं की आंखों को शान्ति प्रदान करनेवाला सुहावना यज्ञ है। भगवान् शंकर ने भी पार्वती के साथ विवाह करके नाटक को अपने शरीर में ताण्डव और लास्य दो भागों में बाँट लिया है। नाटक में सत्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त और अनेक रसों से पूर्ण लोगों के चरित्र दिखाई पड़ते हैं, अतः अलग-अलग रुचि रखनेवाले लोगों के लिए नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सभी एक समान आनन्द पा सकते हैं।

महाकवि कालिदास

सूची

श्री विक्रमादित्य

पद्मभूषण
डॉ० रामकुमार वर्मा

पात्र

श्री विक्रमादित्य —शकारि अवन्तिनाथ
विभावरी (मूमक) —छद्मवेशी शककुमार
पुष्पिका —उज्जयिनी निवासिनी
उद्यानरक्षिका, प्रहरी, वधिक

स्थान—उज्जयिनी] [काल—सन् ५० ई० पू०

डॉ० रामकुमार वर्मा

जन्म-संवत् १९६६ वि०: जन्मभूमि-सागर जिला (मध्य प्रदेश)

वर्तमान समय में डॉ० वर्मा जी प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद से निवृत्त होकर और सीलोन विश्वविद्यालय में विशेष आमंत्रण पर दो वर्ष के लिए हिन्दी प्राध्यापक नियुक्त होकर गये थे अब निवृत्त हैं। ये सफल नाटककार, कुशल कवि तथा मर्मज्ञ संमालोचक हैं और एकांकी नाटक लिखने में तो एक ही हैं। वर्मा जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन—प्रयाग की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष, साहित्य और परीक्षा-मंत्री रह चुके हैं। वर्मा जी को भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि से भी सम्मानित किया है।

इन्होंने एकांकी का निर्माण संवत् १९८७ से आरम्भ किया, वह समय हिन्दी में एकांकी का जन्मकाल था। वर्मा जी के नाटक अभिनय, संवाद और चरित्र-चित्रण इन तीनों दृष्टियों से परिपूर्ण हैं। चरित्र-चित्रण में किसी प्रकार की बनावट नहीं मिलती। अधिकांश पात्र सम्भ्रान्त और शिक्षित वर्ग के हैं, जिनकी भाषा व्यावहारिक और बोल-चाल की है। इसके प्रकाशित एकांकी संग्रह ये हैं—

पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा, शिवाजी, कौमुदी महोत्सव, चार ऐतिहासिक एकांकी नाटक, विभूति, ध्रुवतारिका, तीन एकांकी, सप्तकिरण, विक्रमार्चन, सरस एकांकी, रजतरश्मि, कामकन्दला, ऋतुराज, रिमझिम और मयूर पंख। विजयपर्व, नाना फड़नवीस (नाटक)।

श्री विक्रमादित्य

(श्री विक्रमादित्य (आयु २६ वर्ष) की न्याय सभा का बाहरी कक्ष; एक सिंहासन है जिसमें दोनों ओर सिंह की दो विशाल प्रतिमाएँ हैं। सिंहासन के पीछे एक मेहराब है जिसके मध्य में सूर्य-मण्डल है। शिल्पकला व सजाये गये पत्थरों पर बेल-बूटेदार आकृतियाँ हैं जिनमें कमल और उनकी चारों ओर मृणाल की जाली है। फर्श भी रंगीन पत्थरों का है और उसमें सरोवर की लहरों का आभास है। मेहराब से हटकर एक वातायन है जिससे कुछ दूर पर शिप्रा का प्रवाह दीख रहा है। कमल में सुगन्धित द्रव्य का धूम्र है और चारों ओर रङ्गीन प्रकाश की शलाकाएँ हैं। द्वार के समीप काठ का एक त्रिभुज है जिसमें एक घन्टा लटक रहा है।

सिंहासन पर श्री विक्रमादित्य आसीन हैं देवतुल्य शरीर घुटने तक लम्बी बाँह, प्रशस्त ललाट, चौड़ा और ऊँचा वक्षस्थल, कटि प्रदेश पुष्ट, जैसे विश्वकर्मा ने अपने चक्र-यंत्र पर चढ़ाकर उसकी आकृति और शोभा को और भी चमका दिया है। उनकी कमर में 'अपराजित' खड्ग कसा हुआ है जो 'उनके पुरुषार्थ-रूपी सागर की उच्छल तरङ्ग' है। वे राजसी वस्त्र पहने हुए हैं। सिर पर रत्न-जटित मुकुट है।

मंच की सीढ़ियों पर दाहिनी ओर एक युवती विभावरी (आयु ३२ (वर्ष) खड़ी है: मोतियों से परिपूर्ण सीमान्त और वेणी में बन्धूक पुष्प, कन्धों पर हरा उत्तरीय और कमर में पीले रेशम का कटिबन्ध। हृदय पर मोतियों की माला और पुष्पहार। उसका शेष शृङ्गार फूलों का ही है।

कक्ष में इस समय केवल ये दोनों ही हैं। गम्भीर घोष से श्री विक्रमादित्य मौन भंग करते हैं।)

विक्रमादित्य—आश्चर्य है, उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ ?

विभावरी—सम्राट् उस अपमान की यंत्रणा से आज दिन भर रुदन करने के कारण मेरे कण्ठ की विकृति हो गयी है।

विक्रमादित्य—आर्य नारियाँ रुदन नहीं करतीं। तुम्हारा नाम क्या है देवी ?

विभावरी—विभावरी सम्राट्।

विक्रमादित्य—विभावरी ! कहाँ की निवासी हो ?

विभावरी—विदिशा में मेरा निवास है, सम्राट् !

विक्रमादित्य—उज्जयिनी में कब से निवास कर रही हो ?

विभावरी—शरद्-पूर्णिमा के पूर्व से एक मास से कुछ ही अधिक समय हुआ।

विक्रमादित्य—यहाँ तुम आयी किस लिए थीं ?

विभावरी—पुण्यतीर्था उज्जयिनी में क्षिप्रा-स्नान के लिए।

विक्रमादित्य—कितने दिनों से क्षिप्रा-स्नान कर रही हो ?

विभावरी—पिछले तीन वर्षों से, सम्राट्।

विक्रमादित्य—प्रत्येक वर्ष तुम यहाँ एक मास से अधिक ठहरती हो ?

विभावरी—नहीं सम्राट्, जब से आपका शासन हुआ है तब से यहाँ अधिक ठहरने लगी हूँ।

विक्रमादित्य—क्यों ?

विभावरी—सम्राट् आपके शासन में उज्जयिनी की पवित्रता नक्षत्रों की पवित्रता के समान है। यहाँ चरणों के भैरव राग में पुष्पों ने अपनी

पंखुड़ियाँ खोलना सीखा है। जो नगरी अपने वैभव के स्तूपों में अपने हाथ फैलाकर आपके चरणों की वन्दना कर रही है वह नगरी मेरे लिए इतना आकर्षण क्यों न रखे सम्राट् ?

विक्रमादित्य—इसे मैं कैसे सत्य समझूँ जब विभावरी-जैसी आर्य-नारी अभियोगिनी के रूप में मेरे सामने उपस्थित है।

विभावरी—यह मेरा भाग्य-दोष है सम्राट् ! सूर्य का आलोक कण-कण को प्रकाशित करता है किन्तु पहाड़ की कन्दरा में अन्धकार ही रहता है। वह सूर्य का दोष नहीं है प्रभो ! यह कन्दरा का दोष है जो पत्थरों को तोड़कर छिपकर बैठ गयी है।

विक्रमादित्य—यदि तुम ऐसा समझती हो देवी तो अभियोगिनी बन कर मेरे सामने क्यों हो ? यदि स्वयं तुम्हारा दोष है तो दण्ड सहन करने की शक्ति तुम में होनी चाहिए।

विभावरी—सम्राट्, यदि मैं दण्ड सहन कर लूँगी तो इस दण्ड का द्वार भविष्य में अन्य स्त्रियों के लिए भी खुल जाएगा। आज मैं अपमानित हुई हूँ, यदि उसकी सूचना मैं आपके बाहुबल को न दूँ तो कल दूसरी स्त्री भी अपमानित हो सकती है।

विक्रमादित्य—तुमसे पहले तो कोई स्त्री मेरे राज्य में अपमानित नहीं हुई।

विभावरी—यह आपके राज्य-शासन का गौरव है सम्राट् !

विक्रमादित्य—(दृढ़ता से) चुप रहो विभावरी, मैं ऐसे छद्मवेशी शब्द नहीं सुनना चाहता। ये मेरी यंत्रणा को अधिक तीव्र करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ। तुम्हारा अभियोग क्या है?

विभावरी—सम्राट् लज्जा मेरे शब्दों को रोक रही है।

विक्रमादित्य—मुझे आश्चर्य हो रहा है, तुम आर्यनारी किस प्रकार

हो ? तुमने इस अपमान पर आज दिन भर रुदन किया, आर्य-नारी की मर्यादा के प्रतिकूल है। फिर उस अपमान के कहने में तुम्हें लज्जा हो रही है! आर्य-नारियाँ अपना अपमान ज्वालामय शब्दों में कहती हैं, लज्जा के स्वरों में नहीं।

विभावरी—मैं बहुत दुःखी हूँ सम्राट् !

विक्रमादित्य—तब तो तुम्हें और भी निर्भीक होना चाहिए। भारत की दुःखिनी नारी क्रान्ति की ज्वाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वह उठती है तो सुगन्धमय धूप की भाँति, आकाश तक उसकी उदारता फैल जाती है, वह गिरती है तो बिजली की भाँति और उससे पाताल का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

विभावरी—सत्य है सम्राट् !

विक्रमादित्य—फिर तुमने यह याचना की थी कि तुम्हारा अभियोग न्याय-सभा के बाहरी कक्ष में—एकान्त में—सुना जाये। यह याचना भी तुम्हारी स्वीकार हुई। मैंने अपनी सभा के सदस्यों और मंत्रियों को यहाँ से हटा दिया। इस समय हम लोग एकान्त में हैं। तुम निर्भीक होकर अपना अभियोग मुझे सुना सकती हो।

विभावरी—(हाथ जोड़कर) मैं सम्राट् की कृतज्ञ हूँ।

विक्रमादित्य—कृतज्ञ होने की बात नहीं है। सम्राट् प्रजा का पिता है। यदि आवश्यकता होगी तो मैं इसी स्थल पर तुम्हारे अभियुक्त को दण्ड भी दे सकूँगा।

विभावरी—यह आपकी कृपा है प्रभो !

विक्रमादित्य—अपना अभियोग स्पष्ट करो। किसमें इतनी शक्ति है जो उज्जयिनी में नारी का अपमान करे ?

विभावरी—सम्राट्, आज प्रातःकाल उषावेला में मैं इसी क्षिप्रा

के (वातायन की ओर संकेत) किनारे वायु विहार के लिए गयी थी। वहाँ पुष्पराग उद्यान की सुगन्धि ने मुझे आकर्षित किया और मैंने उसमें प्रवेश किया। शीतल समीरण वह रहा था, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुये थे—

विक्रमादित्य—(बीच ही में) मैं इस समय काव्य नहीं सुनना चाहता, मैं अभियोग सुनना चाहता हूँ।

विभावरी—क्षमा चाहती हूँ सम्राट्, मैं संक्षेप में ही कहूँगी। पुष्पराग उद्यान में पुष्पों की विविधता देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं सूर्य भगवान् की पूजा के निमित्त कुछ पुष्प-चयन कर लूँ। जिस समय मैं पुष्प-चयन कर रही थी उसी समय दूसरी स्त्री मेरे समीप आयी। उसने प्रेम से मेरी ओर देखकर निवेदन किया, "क्या मैं आपकी सहायता कर सकती हूँ ?' उसका प्रेम-भाव देखकर मैंने उसकी सहायता स्वीकार कर ली। पुष्प-चयन के उपरान्त उसने मेरी वेणी में पुष्प गूथने की इच्छा प्रकट की। सम्राट्, सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण मैंने यह भी स्वीकार किया। जिस समय मेरी वेणी में वह पुष्प गूँथ रही थी, उस समय मेरे कण्ठ में उसका स्पर्श अस्वाभाविक ज्ञात हुआ।

विक्रमादित्य—(चौंककर) अस्वाभाविक ? (सिंहासन से उतर पड़ते हैं।)

विभावरी—सम्राट् उसके स्पर्श में मुझे पुरुष-स्पर्श का संकेत मिला !

विक्रमादित्य—(स्तंभित होकर) पुरुष-स्पर्श ! तो क्या वह नारी-वेश में पुरुष था ?

विभावरी—मैं यह सोचती हूँ सम्राट् !

विक्रमादित्य—तुमने उसी समय अपने अपमान का प्रतिकार किया।

विभावरी—सम्राट्, मुझे भय था मैं कहीं अधिक अपमानित न हो जाऊँ।

विक्रमादित्य—तुम्हारे पास कोई शस्त्र था ?

विभावरी—हाँ सम्राट् मेरे पास शस्त्र था। वह अब भी है। देखिए.. यह दन्तिका (कटिबन्ध से दन्तिका निकालकर दिखलाती है।)

विक्रमादित्य—तुमने इसका प्रयोग किया ?

विभावरी—सम्राट् मुझे आपके न्याय में अधिक विश्वास है।

विक्रमादित्य—विभावरी, तुम आर्य नारी नहीं हो। तुमने अपने कुल को कलंकित किया है। साथ ही मुझे भी, अपने सम्राट् को। तुम इस प्रकार अपमानित हो जाओ और शक-स्त्रियों की भाँति रोने लगी ? तुम्हें अपनी असमर्थता पर लज्जा नहीं आयी ? तुम्हारी माता को आत्म-हत्या करनी चाहिए। तुम्हारे पिता को देश से भाग जाना चाहिए। शक्ति-हीन नारी। भारत के भविष्य की संरक्षिका को अपमान का प्रतिकार करना भी न आया ? (अशान्ति से शीघ्रगति में टहलने लगते हैं।)

विभावरी—सम्राट्, मुझे क्षमा कीजिए। विदिशा में रहनेवाली नारी को अभी उज्जयिनी की नारी से बहुत कुछ सीखता है। आपके व्यक्तित्व के प्रभाव में तो उज्जयिनी की नारी दुर्गा और सरस्वती दोनों ही रूप धारण कर सकती हैं।

विक्रमादित्य—(घृणा से) अयोग्य नारी ! इस तिल की ओट मे तुम पर्वत को नहीं छिपा सकती। यह कारण तुम्हारी असमर्थता की रक्षा नहीं करेगा।

विभावरी—(हाथ जोड़कर) सम्राट् मैं भी दण्ड की पात्री हूँ !

विक्रमादित्य—निस्सन्देह, नारी अपमान के लिए मैं अभियुक्त को

निर्वासित करूँगा ही; साथ ही साथ तुम्हें भी साधना की अग्नि में तपकर सच्ची नारी वनना होगा।

विभावरी---मैं दण्ड सहन करने के लिए प्रस्तुत हूँ प्रभो !

विक्रमादित्य---और तुम्हारा अभियुक्त कहाँ है ?

विभावरी---मैं उसे पुष्पराग उद्यान की द्वार-रक्षिका से वन्दी करा कर ले आयी हूँ। वह इस समय द्वार-रक्षिका के साथ बाहर है। मैं स्वयं पदाघात कर उसे आपके पवित्र राज्य की सीमा से वाहर करूँगी।

विक्रमादित्य---(अशान्त होकर) उज्जयिनी में कभी ऐसा अभियोग मेरे सामने उपस्थित नहीं हुआ है। विभावरी, तुमने आज मुझे यह सोचने के लिए वाध्य किया है कि इतने युद्ध करने के उपरान्त, इतने शत्रुओं को मालवा, सौराष्ट्र और गुजरात से निर्वासित करने के उपरान्त भी मैं उज्जयिनी की सामाजिक व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ रहा ! आज भी उज्जयिनी में नारी अपमानित हो सकती है।

विभावरी---हाँ सम्राट् !

विक्रमादित्य---(तीव्र स्वर में) विभावरी !

विभावरी---(विह्वल होकर) सम्राट् क्षमा हो। जिस नारी की वाणी ने ही क्षिप्रा का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ मेरी वाणी में यदि कुछ भूल हो तो क्षमा कीजिए, किन्तु अपनी आत्मा का चीत्कार मैं किन शव्दों में व्यक्त करूँ प्रभो ! मैं लांछित हुई हूँ, मेरे आत्मसम्मान की अवहेलना ...... ?

विक्रमादित्य---(रोककर) वस अव मैं अधिक नहीं सुन सकूंगा। तुम्हारे अभियोग ने मेरे पराक्रम की सहस्त्र भुजाओं को शक्तिहीन सिद्ध कर दिया है। मैं अव तक अपनी शक्ति का विश्वासी था आज वह विश्वास तुम्हारे अभियोग से समाप्त हो रहा है। मेरे राज्य में नारी का अपमान हो वह मेरे लिए अपमान की वात है।

विभावरी—सम्राट्-श्रेष्ठ है प्रभो !

विक्रमादित्य—चुप रहो विभावरी, इन शब्दों से तुम मुझे पीड़ा पहुँचा रही हो। मैंने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। क्या मेरे इस साहस की भावना पर तुम्हारा अभियोग हँस नहीं रहा है ! मैं उस विरुद का परित्याग करूँगा। तुमने विक्रम की ऐसी पताका भी नहीं देखी है जो अन्याय और अव्यस्था के दण्ड में सजी हो ? तुम ऐसे सूर्य की कल्पना कर सकती हो जिसकी किरणों से अन्धकार निकलता हो ? विक्रमादित्य अन्याय और अव्यवस्था का प्रतीक हो, यह असंभव है, यह असंभव है।

विभावरी—सम्राट् शान्त हों ?

विक्रमादित्य—अयोग्य व्यक्ति कभी शान्त नहीं हो सकता। मैं अयोग्य हूँ। कालिदास ने व्यर्थ ही मेरी प्रशंसा की है, मुझे पहचानने में महाकवि ने भी भूल की।

विभावरी—नहीं प्रभो, मैंने आपको कष्ट पहुँचाने में भूल की है।

विक्रमादित्य—नहीं, मैं विक्रमादित्य नाम का परित्याग करूँगा। मेरे लिए केवल यही मार्ग है। केवल यही, किन्तु इसके पूर्व में नारी के सम्मान की पूर्ण व्यवस्था कर जाऊँगा। हाँ तुम्हारा अपराधी बाहर है ? मैं उस नर-पिशाच को देखना चाहता हूँ जो अपने छद्मवेश में नारियों का अपमान करता फिरता, जो पुरुष होकर अपने पुरुपत्व को नारी के वस्त्रों में छिपाये हुए है, जिसने विक्रमादित्य की सत्ता को विलासियों की शृंङ्गार-शाला समझ रखा है। (द्वार के समीप पहुँचकर घन्टे पर चोट करते हैं। फिर लौटकर विभावरी से) तुम्हें मेरे न्याय में अधक विश्वास है ! मैं आज एकाकी न्याय करूँगा। न्याय सभा का

सारा अधिकार मैं अपने वाहु-वल में केन्द्रित कर अपराधी को कठोर दण्ड दूँगा। (प्रहरी का प्रवेश, वह अपना भाला झुकाकर प्रणाम करता है।)

विक्रमादित्य---प्रहरी, वाहर जो वन्दिनी द्वाररक्षिका के अधिकार में है उसे यहाँ उपस्थित होने की आज्ञा सुनाओ।

प्रहरी---जो आज्ञा (प्रणामकर प्रस्थान)

विक्रमादित्य---(विभावरी से) तुम मेरा न्याय देखना चाहती हो ? किन्तु सुनो विभावरी, मैं ऐसी नारी से घृणा करता हूँ जो अपना सम्मान स्वयं सुरक्षित नहीं रख सकती। नदी पहाड़ से कहे कि तुम मेरे लिए किनारा वना दो, विजली वादल से कहे कि मुझे तड़पना सिखला दो और नारी राजा से कहे कि मेरा न्याय कर दो। नारी भारतवर्ष को संसार में लज्जित होने से वचाओ, विदेशियों से पद-दलित होने पर देश की मर्यादा सुरक्षित रहने दो।

(द्वार-रक्षिका का अभियुक्त (आयु २४ वर्ष) के साथ प्रवेश। द्वार-रक्षिका श्वेत वस्त्र धारण किये हुए है। काले रेशम का कटिबन्ध। कबरी में पुष्प-शृंगार और हाथ में शूल। अभियुक्त पाटल रंग का उत्तरीय और नीले रंग का कटिबन्ध पहने है। गले में स्वर्ण-माला। केशों में कुन्द-पुष्प। माथे में स्वस्तिक-तिलक। हाथों में पुष्प-वलय और पैरों में नूपुर धारण किए हुए है। दोनों का अभिवादन। द्वार-रक्षिका अभियुक्त को सामने उपस्थित कर द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती है।)

विक्रमादित्य---(द्वार-रक्षिका से) तुम वाहर मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करो।

द्वाररक्षिका---(सिर झुकाकर) (प्रस्थान)

विक्रमादित्य—(अभियुक्त को गहरी दृष्टि से देखकर विभावरी से) यही तुम्हारा अभियुक्त है !

विभावरी—(उद्वेग से) सम्राट्, यही अभियुक्त है। इसी ने मेरा अपमान किया है, यही वह दुष्ट है, यही वह छद्मवेशी है जिससे……

विक्रमादित्य—(हाथ बढ़ाकर) रुको विभावरी, तुम मेरे न्यायकक्ष में हो। (अभियुक्त से) अभियुक्त, तुम विक्रमादित्य की परीक्षा लेना चाहते हो कि वह अपनी व्यवस्था में सतर्क है या नहीं ! छद्मवेशी अभियुक्त, तुम नारी-वेश में पुरुषत्व का अपमान और नारीत्व की अवहेलना करनेवाले कौन हो ?

अभियुक्त—(हिचकते हुए) सम्राट् !

विक्रमादित्य—(तीव्रता से) तुम्हारा नाम क्या है ?

अभियुक्त—(रुकते हुए शब्दों में) सम्राट् मैं मैं…पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—मैं जानता हूँ कि तुम पुरुष हो, पुरुषत्व को लज्जित करनेवाले पुरुष, तुम्हारा नाम क्या है ? विक्रमादित्य के सामने तुम असत्य भाषण नहीं कर सकोगे। मेरे अधिकार में अग्नि है, (तलवार पर हाथ रखकर) 'अपराजित', की तीक्ष्णधारा है, और बधिक का तीक्ष्ण कृपाण ! सत्य और धर्म के सोपान पर सुसज्जित पवित्र न्याय के सामने अपने नाम का अक्षर दुहराओ !

अभियुक्त—(विह्वल होकर) सम्राट्……सम्राट्……मुझे क्षमा कर……मैं……स्त्री……।

विक्रमादित्य—तुम स्त्री हो यह तो सभी देखनेवाले जान सकते है, किन्तु मैं तुम्हारे पुरुषत्व की परिभाषा जानना चाहता हूँ।

अभियुक्त—सम्राट् ! मैं स्त्री हूँ। नाम पुष्पिका है।

विभावरी—(तीव्रता से) सम्राट् यह झूठ बोलता है, इसका यह नाम नहीं है।

विक्रमादित्य—(मुस्करा कर) नाम तो बहुत सुन्दर है, किन्तु तुम्हारा वास्तविक नाम क्या है ? तुम विक्रमादित्य के न्याय के सामने हो असत्य भाषण नहीं करोगे।

अभियुक्त—सम्राट्, मैं क्या कहूँ मेरी समझ में नहीं आता···हाँ मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—दंड के भय से उद्भ्रान्त मत बनो, अभियुक्त ! भगवान् महाकालेश्वर की आन पर तुम असत्य भाषण नहीं करोगे।

अभियुक्त—सम्राट् के सामने यह साहस किसी का नहीं हो सकता।

विक्रमादित्य—अभियोग कहता है कि तुम पुरुष हो। तुमने विभावरी का अपमान किया है। क्या सत्य है ?

अभियुक्त—हाँ सम्राट् यह सत्य है। (रुककर) नहीं, नहीं, यह सत्य नहीं है।

विक्रमादित्य—(तीक्ष्णता से) स्थिर रहो अभियुक्त, तुम कहाँ के निवासी हो ?

अभियुक्त—सम्राट् मैं उज्जयिनी में निवास करती हूँ।

विक्रमादित्य—(दृढ़ता से) तो तुम स्त्री हो ! अभियुक्त, असत्य-भाषण करने पर कठोर दंड मिलेगा। अपनी वास्तविकता स्वीकार करो।

अभियुक्त—सम्राट् ! मेरा नाम पुष्पिका है। मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ।

विक्रमादित्य---इसका प्रमाण !

अभियुक्त---मैं सम्राट् के राज्यारोहण के समय उपस्थित थी। उस समय सम्राट् ने उज्जयिनी की प्रत्येक नारी को जो स्वर्ण-मुद्राएँ दी थीं वे मेरे कण्ठहार में अब तक सुसज्जित हैं। देखिए, (अपना कण्ठहार दिखलाती है।)

विक्रमादित्य---किन्तु वे मुद्राएँ तुम्हारे द्वारा, चुराई भी तो जा सकती है।

अभियुक्त---सम्राट् उज्जयिनी की प्रत्येक नारी अपनी मुद्रा को गौरव का चिह्न समझती है। वह उसे चोरी नहीं होने दे सकती और सम्राट् उज्जयिनी में चोरों का निवास नहीं है !

विक्रमादित्य---मैं यह बात सुन कर प्रसन्न हूँ किन्तु तुम पर अभियोग है कि तुम पुरुष हो। क्या तुम पुरुष हो ?

अभियुक्त---(दृढ़ता से) सम्राट्, मैं पुरुष नहीं हूँ। (विभावरी क्रोध से काँप जाती है।)

विक्रमादित्य---विभावरी, तुम काँप उठी, इतना क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं अभी निर्णय करता हूँ (अभियुक्त से) अभियुक्त, क्या मैं प्रहरी को आज्ञा दूँ कि वह तुम्हारा वेश-विन्यास परिवर्तन करे ?

अभियुक्त---सम्राट्, उज्जयिनी की नारी को प्रहरी द्वारा अपमानित होने से रोकने की कृपा कीजिए।

विक्रमादित्य---क्या तुम पुरुष नहीं हो, अभियुक्त ?

अभियुक्त---नहीं सम्राट् मैं बचन दे चुकी हूँ कि अपने सम्राट् के सामने असत्य-भाषण नहीं करूँगी।

विक्रमादित्य---(विभावरी से) विभावरी, क्या तुम्हारे कहने से अभियुक्त स्वीकार करेगा कि वह पुरुष है ?

विभावरी---(अभियुक्त की ओर दृढ़ता से देखकर) अभियुक्त, तुम पुरुष हो, तुम्हारे स्पर्श में नारी का भाव नहीं था। तुमने मुझसे स्वीकार किया था कि तुम सम्राट् के सामने अपना पुरुषत्व स्वीकार करोगे। मेरी लज्जा के लिए स्वीकार करो, अपने वचन की पूर्ति के लिए स्वीकार करो। (अभियुक्त मौन है) देखो अभियुक्त, तुम चुप क्यों हो ? तुम स्वीकार क्यों नहीं करते ?

विक्रमादित्य---(विभावरी से) तुम्हारा कथन भी रहस्यपूर्ण है विभावरी।

विभावरी---कोई रहस्य नहीं सम्राट् ! (अभियुक्त से) अभियुक्त मैं निश्चयपूर्वक कहती हूँ कि तुम पुरुष हो। मेरी ओर देखकर कहो कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त---(विभावरी को देखकर) अच्छा तो मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य---(क्रुद्ध होकर 'अपराजित' म्यान से निकालकर) सावधान, तुम सत्य से खिलवाड़ कर रहे हो अभियुक्त ! राजमर्यादा का अपमान करने के कारण तुम्हें कठोर दण्ड दिया जायगा। ज्वालामुखी पर बैठकर तुम अंजलि के जल से अपनी रक्षा चाहते हो ! (जोर से) प्रहरी !

अभियुक्त---(घुटनें टेककर), सम्राट् क्षमा करें। मैं अपराधिनी हूँ। मैं आपकी करुणा का दान चाहती हूँ। (प्रहरी का प्रवेश, वह प्रणाम करता है।)

विक्रमादित्य---(अभियुक्त से) तो तुम पुरुष नहीं हो ! अभी विभावरी की ओर देखकर तुमने कहा कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त—मैं स्त्री हूँ। अपने सम्राट् के सामने असत्य भाष
नहीं कर सकती।

विक्रमादित्य—इसमें कुछ रहस्य है! अच्छा, तुम स्त्री ही सही (अकस्मात् दूसरी ओर नेपथ्य में देखकर) ओह……इतना भयान सर्प……(प्रहरी उस ओर दौड़ता है। अभियुक्त भागकर सिंहासन पीछे छिप जाता है।)

विक्रमादित्य—अभियुक्त वास्तव में स्त्री है। सर्प न होते हुए सर्प के नाम से वह विचलित हो गयी। पुरुषों का यह लक्षण नहीं है (विभावरी की ओर देखकर) तुम विचलित नहीं हुई विभावरी (खड्ग म्यान में रखते हुए।)

विभावरी—मैं साहसी हूँ सम्राट्!

अभियुक्त—(आगे बढ़कर) सम्राट्! क्षमा-दान करें। विभावर पुरुष है।

विक्रमादित्य—ओह, यह रहस्य है! मैं भी अनुमान करता हूँ विभावरी पुरुष है।

विभावरी—पुष्पिके! तुमने विश्वासघात किया! (अभियुक्त की ओर दृष्टि)

पुष्पिका—क्षमा हो राजकुमार, प्रयत्न करने पर भी मैं सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकी।

विक्रमादित्य—(आश्चर्य) राजकुमार!

पुष्पिका—सम्राट् मैं क्षमा की भीख माँगते हुए निवेदन करती हूँ कि यह विभावरी शक राजकुमार क्षत्रप भूमक है।

विक्रमादित्य—(आश्चर्य और क्रोध से) शक-राजकुमार, भूमक! (तलवार पर हाथ रखते हुए) बोलो राजकुमार भूमक, तुम सौराष्ट्र के

युद्ध में कहाँ रहे ? क्या इसी वेश में विदिशा की नारियों के बीच छिपे हुए थे ? तुम विभावरी हो ! क्यों कायर राजकुमार ? तुम्हें अपनी माता का स्तन्य लज्जित करते हुए संकोच नहीं हुआ ! स्त्री-वेश में तुम्हें अपने पुरुषत्व को कलंकित करते हुए क्षोभ नहीं हुआ ? और फिर तुम्हीं अभियोग लाये थे ? स्वयं अपराधी होते हुए अभियोग लगाने का साहस ? राज-मर्यादा में तुम्हें असत्य का अभिनय आत्म-हत्या करने से अच्छा ज्ञात हुआ ? कायरता की प्रतिमूर्ति राजकुमार भूमक ?

भूमक—मैं कायर नहीं हूँ सम्राट् !

विक्रमादित्य—तुम कायर नहीं हो ? तुम इतने तुच्छ हो कि तुम्हें आर्य-नारी बनने की योग्यता भी नहीं आयी। आर्य-नारी ने रोदन किया। उसके कण्ठ की विकृति हुई। अपना पुरुष-स्वर छिपाने के लिए कण्ठ की विकृति ! उसने अपमान सहा, शस्त्र का प्रयोग नहीं किया वह सम्मान के प्रतिरोध में सम्राट् के सामने अभियोगिनी बनी और उसे अभियोग को स्पष्ट करने में लज्जा न हुई। ये सब क्या आर्यनारियों के लक्षण हैं ? मुझे पहले ही सन्देह होने लगा था। शकों में आर्य-नारियों का धर्म पहचानने की क्षमता कहाँ, तुम शक-राजकुमार भूमक हो, तुम इन सब बातों को क्या समझो, तुम तो केवल स्त्री-वेश धारण करना जानते हो।

भूमक—सम्राट् आप मेरा अपमान मत कीजिए। स्त्री-वेश मैंने अपनी इच्छा से धारण किया। मैं कायर नहीं हूँ। यदि आपकी इच्छा युद्ध करने की हो तो मेरे लिए भी एक तलवार लाने की आज्ञा दीजिए। मैं जानता हूँ कि मैं आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु शक-राजकुमार मरने से भी नहीं डरता।

विक्रमादित्य—(मुस्कराकर) मैं यह सुनकर प्रसन्न हूँ। (घंटे पर

चोट करते हैं।) किन्तु विभावरी और भूमक में अन्तर है, वह मैं जानता हूँ। यह सब काण्ड रहस्य के रूप में मेरे सामने क्यों उपस्थित किया गया ? स्त्री और पुरुष, फिर पुरुष और स्त्री। मेरे राज्य में इस इन्द्रजाल के लिए स्थान नहीं है।

(प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी—(प्रणामकर) सम्राट् कोई सर्प नहीं दीख पड़ा।

विक्रमादित्य—यह मैं जानता हूँ (विभावरी की ओर संकेत करते हुए) इस स्त्री को शस्त्रागार में ले जाकर इसे सैनिक का वस्त्र विन्यास दो और साथ ही इसकी रुचि के अनुसार एक तलवार भी।

प्रहरी—जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—स्त्री-वेश में मेरे समक्ष तुम अपने पुरुषत्व को अधिक देर तक लज्जित मत करो क्षत्रप-राजकुमार।

(भूमक का सैनिक के साथ प्रस्थान)

विक्रमादित्य—(घूमकर पुष्पिका से) पुष्पिके ! जो पुरुष था वह स्त्री-रूप से आया और जिसमें पुरुष की कल्पना थी यह स्त्री ही निकली। यह सब मेरे सामने किस षड्यन्त्र का रूप है।

पुष्पिका—सम्राट् क्षमा करें यह मेरी व्यक्तिगत जीवन-कथा है। परिस्थिति-वश मुझे कार्य करना पड़ा। मैं लाचार थी।

विक्रमादित्य—तो तुम इस घटना-चक्र की प्रधान-पात्री हो ?

पुष्पिका—नहीं सम्राट् मैं प्रधान पात्री नही हूँ।

विक्रमादित्य—तुम प्रधान-पात्री नहीं हो ! तुमने यह क्यों कहा कि मैं पुरुष हूँ ?

पुष्पिका—उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए सम्राट्।

विक्रमादित्य---उपकार-ऋण ! किसके उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए ?

पुष्पिका---राजकुमार भूमक ने मेरे प्रति उपकार किया था।

विक्रमादित्य---कैसा उपकार ?

पुष्पिका---सम्राट्, मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूं। दो वर्ष पूर्व मैं एक कार्य से गुर्जर चली गयी थी। अकस्मात् शकों ने गुर्जर पर आक्रमण किया। दुर्भाग्य से मैं भी शकों के हाथों में पड़ गयी। जब अन्य वन्दियों के साथ मैं वध-स्थान को ले जायी जा रही थी, उस समय एकाएक इस शक-राजकुमार ने आकर मेरी रक्षा की और मुझे स्वतन्त्र किया।

विक्रमादित्य---तुम पर ही कृपा क्यों की ?

पुष्पिका---मैं नहीं जानती सम्राट् !

विक्रमादित्य---सम्भवतः तुम्हारे सौन्दर्य के आकर्षण ने उससे यह कार्य कराया हो।

पुष्पिका---जो भी हो सम्राट् ! किन्तु उसने मेरे आत्मसम्मान पर आँच नहीं आने दी और साथ ही मुझे जीवन दान दिया। सम्राट् मुझे इतने बड़े उपकार का बदला देना था।

विक्रमादित्य---तो क्या उपकार का बदला तुम अन्याय-रूप से देती ?

पुष्पिका--- क्षमा कीजिए सम्राट् ! राजकुमार भूमक ने इसी बात की याचना की थी।

विक्रमादित्य---और इस क्षत्रप-राजकुमार ने स्त्री-वेश क्यों धारण किया ?

पुष्पिका—सम्राट् जब आपने मालवा, गुर्जर और सौराष्ट्र से शकों को निर्वासित किया तो मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाले क्षत्रप को गुर्जर छोड़ने में कष्ट हुआ। उसने गुर्जर ही में रहने का निश्चय किया, किन्तु पुरुष-वेश में रहना उसके जीवन के लिए संकट का कारण होता, इसीलिए उसने स्त्री-वेश रखकर रहने में ही अपनी कुशल समझी।

विक्रमादित्य—फिर वह गुर्जर ही में क्यों नहीं रहा ?

पुष्पिका—सम्राट्, दुर्भाग्य से गुर्जर में लोगों की सन्देह-दृष्टि उस पर पड़ ही गयी। इस समय मुझे उज्जयिनी भी आना था तो उसने मुझसे प्रार्थना की कि यह भी मेरे साथ उज्जयिनी चले। मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

विक्रमादित्य—क्या तुम उससे प्रेम करती हो ?

पुष्पिका—सम्राट्, उपकार का बदला देना प्रेम करना नहीं कहा जा सकता।

विक्रमादित्य—क्या वह तुमसे प्रेम करता है।

पुष्पिका—मैं कह नहीं सकती सम्राट् ! किन्तु इस प्रकार के व्यवहार की मैंने अवहेलना की है। इस समय अधिक से अधिक यह मेरा भाई कहा जा सकता है।

विक्रमादित्य—यह सुनकर मैं प्रसन्न हूँ, किन्तु छद्मवेश रखने का अपराध करके भी इस राजकुमार को उज्जयिनी में आते हुए भय नहीं हुआ ?

पुष्पिका—उसे मेरे आश्रय का सबसे बड़ा बल था सम्राट् वह समझता था कि मैं उसकी पूर्ण रक्षा कर सकूंगी।

विक्रमादित्य—तो तुम राज्य के समक्ष अपराधिनी होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं कर सकी ?

पुष्पिका—आप रक्षा कर सकते हैं सम्राट् !

विक्रमादित्य—तुम जानती हो पुष्पिके ! शकों को मैं एक ही दंड दिया करता हूँ और वह है प्राणदंड। किन्तु खेद है कि युद्ध में इस क्षत्रप ने मेरा सामना नहीं किया। फिर भी इससे इसके दंड की व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। अभी एक बात तुम्हें और स्पष्ट करनी है, वह यह कि स्वयं क्षद्मवेश में उपस्थित होकर और तुम पर अभियोग लगाकर उसने अपने किसी कार्य की पूर्ति करनी चाही।

पुष्पिका—सम्राट्, कुछ ही दिनों में यहाँ उसे आपके आतंक और मर्यादापूर्ण शासन का ज्ञान हो गया। उसे भय था कि वह किसी दिन भी न्याय-सभा के सामने उपस्थित कर दिया जायगा। अतः उसे उज्जयिनी की प्रत्येक दिशा में सम्राट् विक्रमादित्य का कृपाण दीख पड़ने लगा। उसने निश्चय किया कि वह शीघ्र ही कपिशा चला जायेगा, किन्तु मार्ग में उसे प्राणों का भय था इसलिए उसने सैनिकों के संरक्षण में जाना ही उचित समझा। इसी बात के लिए इस अभियोग की कल्पना करनी पड़ी।

विक्रमादित्य—(सिर हिलाकर) ठीक !

पुष्पिका—और सम्राट् राज्य का यह नियम तो आपने निर्धारित कर दिया है कि नारी के अपमान का दण्ड देश-निर्वासन है। मैं उस दण्ड के अनुसार निर्वासित होती, क्योंकि मैं स्वीकार करती कि मैं पुरुष हूँ। मेरे दण्डित होने पर वह विभावरी रूप में आपसे यह प्रार्थना भी करता कि वह पदाघात कर मुझे राज्य की सीमा से बाहर करे। इसलिए वह भी मेरे साथ ही सैनिकों के संरक्षण में सीमा तक

पहुँच जाता और सीमा पर पहुँचकर वह आपके राज्य से निकल भागता।

विक्रमादित्य—यह रहस्य है!

पुष्पिका—यही कारण है कि मेरी आँखों में उसने आँखें डालकर मुझसे अनुरोध किया था कि मैं आपके सामने यह स्वीकार कर लूँ कि मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य—किन्तु, इससे अच्छा क्या यह न होता कि वह स्वयं किसी स्त्री को अपमानित कर निर्वासन का दण्ड प्राप्त करता।

पुष्पिका—सत्य है सम्राट्, किन्तु आपसे प्राणदान पाकर भी उसे भय था कि वह मार्ग ही में किसी सैनिक द्वारा न मार दिया जाय!

विक्रमादित्य—तो इस अभियोग में तुम तो निर्वासित ही हो जाती।

पुष्पिका—सम्राट्! एक उपकारी के लिए मैं यह भी करती किन्तु बाद में मैं पुनः उज्जयिनी लौट आती, आपकी मुद्राओं से सुसज्जित अपना कण्ठहार दिखलाकर।

विक्रमादित्य—तो तुमने अपराधी को छिपाकर और उसकी कूट-नीति में भाग लेकर राजद्रोह किया है तुम दण्ड की अधिकारिणी हो।

पुष्पिका—सम्राट्! मैं दंडित होने को प्रस्तुत हूँ किन्तु अपने ऊपर अनन्त उपकार करनेवाले शक-राजकुमार की केवल एक इच्छा की पूर्ति करना मैंने अपना धर्म समझा।

विक्रमादित्य—किन्तु तुम जानती हो कि शकों और आर्यों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? शकों ने आर्यों पर कितने अत्याचार किये हैं। उन्होंने ब्राह्मणों का वध किया है। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म को

जड़मूल उखाड़ने की चेष्टा की है। क्या शाहानुशाही क्षत्रपों के शासन से तुम अपरिचित हो ?

पुष्पिका—नहीं सम्राट् ! मुझे शकों के अत्याचार की कथा ज्ञात हैं, किन्तु शक-राजकुमार भूमक बहुत दयावान् है। वह कोमल हृदय है वह न्यायी है, अन्यथा वह मुझे मुक्त क्यों करता ? वह मेरे सम्मान की रक्षा क्यों करता ? वह जाति से शक किन्तु अपने विश्वास से वह पूर्ण आर्य है। जैन धर्म में उसका पूर्ण विश्वास है। वह हिंसा विरोधी है, वह शक होकर भी शाकाहारी है।

विक्रमादित्य—तुम इस वक्तव्य से उसे निरपराध सिद्ध नहीं कर सकती। यदि आर्य-नारी की रक्षा करने के कारण उसे क्षमा भी कर दूँ तो कपटपूर्ण अभियोग के लिए उसे दंडित तो करूँगा ही और साथ ही तुम्हें भी।

पुष्पिका—सम्राट् मुझे दण्ड दीजिए, किन्तु मुझ पर उपकार करने-वाले क्षत्रप राजकुमार को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य—वह शक-क्षत्रप होने के कारण ही दण्ड का अधिकारी है। शासन का न्याय शक-क्षत्रप को शक्तिशाली नहीं रहने देगा। शकों ने जिस प्रकार आर्य-संस्कृति को कुचलने की चेष्टा की है उसके लिए उन्हें अनेक परम्पराओं तक प्रायश्चित की अग्नि से जलना होगा। फिर विक्रमादित्य के सामने 'आर्य-धर्म का विद्रोही' संसार का सबसे बड़ा अपराधी है।

पुष्पिका—क्या राजकुमार किसी भाँति भी क्षमा नहीं किया जा सकेगा।

विक्रमादित्य—मैं उसे क्षमा भी कर सकता हूँ, किन्तु केवल एक बात पर और यह कि वह आर्य-धर्म स्वीकार करे और सारे देश में उसका प्रचार करे। क्या वह प्रायश्चित करेगा।

पुष्पिका—सम्राट्, मुझे आशा नहीं है।

विक्रमादित्य—तब अवश्य दंडित होगा। उसने राजधर्म की अवहेलना की है। उसने अपने राज्य के प्रति षड्यन्त्र किया है, उसने एक झूठे अभियोग से अपनी मुक्ति की कुटिल युक्ति सोची है।

पुष्पिका—(शिथिल होकर) सम्राट् की जो इच्छा ?

विक्रमादित्य—और सुनो पुष्पिके ! तुम्हारे दण्ड की भी व्यवस्था है। यद्यपि सत्य बोलकर और राजधर्म की मर्यादा मानकर तुमने अपने अपराध की गुरुता कम कर ली है। फिर भी तुम्हें शक क्षत्रप के साथ गुप्त अभिसन्धि करने के कारण दो मास के कारागार का दण्ड मिलेगा।

पुष्पिका—सम्राट् मेरे कारावास का दण्ड बढ़ा दीजिए, किन्तु मेरे उपकारी क्षत्रप को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य—यह असम्भव है। राजनीति स्त्रियों की विनयशीलता में तरल नहीं हुआ करती।

(प्रहरी के साथ भूमक सैनिक वेश में आता है। उसके हाथ में तलवार है। वह एक सुन्दर शरीर का युवक दृष्टिगत होता है।)

विक्रमादित्य—(प्रहरी से) प्रहरी, तुम यहीं द्वार पर बाहर रहो, तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रहरी—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा। (प्रस्थान)

विक्रमादित्य—(भूमक से) आओ क्षत्रप-राजकुमार भूमक ! मैं तुम्हारी गुप्त अभिसन्धि की बातें जान चुका हूँ तुमने राज्यमर्यादा का अपमान किया है। कपटपूर्ण अभियोग लाकर तुमने न्याय को धोखा देने की चेष्टा भी की है। तुम कुछ और कहना चाहते हो ?

भूमक—जब उज्जयिनी की नारी ने भी मेरे साथ विश्वासघात किया तब मुझे और कुछ नहीं कहना है।

विक्रमादित्य—तुम इसे विश्वासघात क्यों कहते हो क्षत्रप ? यदि उसने तुम्हारे पवित्र विश्वास की अवहेलना की होती तो वह निश्चय ही विश्वासघातिनी होती किन्तु उसने सत्यासत्य का निर्णय करते हुए पवित्र राजधर्म की मर्यादा रखी। क्या इस आचरण के लिए तुम उसकी सराहना नहीं करोगे ?

भूमक—सम्राट् मैंने स्वयं अपने दल के सैनिकों से उसकी रक्षा की थी। मैं चाहता था कि वह भी आर्य-सम्राट् से मेरी रक्षा करती।

विक्रमादित्य—तो तुम उपकार का प्रतिदान चाहते हो ?

भूमक—नहीं, संकटकाल में केवल आत्म-रक्षा और कुछ नहीं।

विक्रमादित्य—किन्तु यह आत्म-रक्षा कपटपूर्ण अभियोग से नहीं हो सकती। तुम द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत होकर आये हो ? (तलवार हाथ में तौलते हैं।)

भूमक—मैं प्रस्तुत होकर आया हूँ सम्राट् ! (तलवार हाथ में संभालता है।)

विक्रमादित्य—किन्तु तुम्हें युद्ध-दान नहीं मिलेगा।

भूमक—मैं कारण जानना चाहता हूँ।

विक्रमादित्य—कारण यह है कि स्त्री-वेश धारण करनेवाले व्यक्ति मेरे द्वन्द्व के योग्य नहीं रह जाते। मेरे सामने विभावरी का रूप है, उस पर कृपाण नहीं रख सकूँगा। तुम्हारे लिए वधिक का कृपाण हो सकता है। विक्रमादित्य का 'अपराजित' नहीं। तुम तलवार पृथ्वी पर रख दो।

भूमक—किन्तु मैं द्वन्द्व चाहता हूँ।

विक्रमादित्य—(तीव्र स्वर) तुम न्याय-सभा के सामने हो ?
(भूमक लज्जा और क्रोध से तलवार फेंक देता है।)

विक्रमादित्य—न्याय की आज्ञा पालन करने के कारण मैं प्रसन्न हुआ। भूमक, तुमने स्त्री-वेश धारण कर राज्य-दृष्टि के प्रति छल किया। झूठा अभियोग लाकर तुमने राज्य-मर्यादा का अपमान किया, इसलिए तुम कठोर दण्ड के पात्र हो। किन्तु भूमक किसी समय तुमने एक आर्यनारी की प्राण-रक्षा की थी, इस कारण तुम्हें आंशिक रूप में क्षमा भी दी जा सकती है यदि तुम राज्य के नियम के अनुसार प्रायश्चित करो। तुम्हें प्रायश्चित करना स्वीकार है।

भूमक—मुझे किसी प्रकार का भी प्रायश्चित करना स्वीकार नहीं है।

विक्रमादित्य—फिर झूठे अभियोग के लिए दण्ड निश्चित है ?

भूमक—जो आपके समक्ष झूठा अभियोग है, वह मेरे समक्ष राजनीति है।

विक्रमादित्य—किन्तु मैं तुम्हें अपनी राजनीति से दण्ड दे रहा हूं सम्राट् के साथ कपट करने का दण्ड तुम जानते हो भूमक ?

भूमक—सम्राट् मैंने कभी जानने की इच्छा नहीं की।

विक्रमादित्य—तो अब जान लो। तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जायेंगे।

पुष्पिका—(शीघ्रता से घुटने टेक कर) क्षमा, सम्राट् क्षमा !

विक्रमादित्य—उठो पुष्पिके ! उठो, तुम पहले से ही दण्डित हो। अब तुम्हें कुछ कहने का अधिकार नहीं। (भूमक से) और भूमक तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था मैं इसी समय करूंगा !

(पुष्पिका उठती है)

भूमक—सम्राट् मैं सब समय प्रस्तुत हूँ।

(विक्रमादित्य घण्टे पर चोट करते हैं।)

विक्रमादित्य—भूमक, मुझे केवल दुःख एक यह है कि तुम्हारे हाथों के न रहने से मैं कभी तुम्हारा युद्ध-कौशल न देख सकूँगा, किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं, हाँ अपने शेष जीवन में तुम यह प्रयत्न करना कि अगले जन्म में तुम्हारे दोनों हाथ जीवन भर काम दे सकें।

(प्रहरी का प्रवेश)

विक्रमादित्य—(प्रहरी से) प्रहरी, वधिक को शीघ्र वहाँ आने की आज्ञा सुनाओ। आज फिर भगवान् ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर को रक्त का अभिषेक होगा।

प्रहरी—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा।

विक्रमादित्य—पुष्पिके! अपने उपकारी के प्रति जो कुछ भी श्रद्धावाक्य कहना है मेरे सामने ही कह दो। मुझे खेद है कि तुम्हारी क्षमा प्रार्थना मुझे अस्वीकार करनी पड़ी। किन्तु शासन का न्याय सर्वोपरि है। वह शकों के सम्बन्ध में क्रूर है और अपराधियों के सम्बन्ध में दृढ़। वह तुम्हें अन्याय के समर्थन की आज्ञा नहीं देगा और (भूमक से) राजकुमार भूमक मुझे खेद है कि तुम यहाँ एकाकी आये। यदि तुम्हारे कुछ साथी और होते तो पारस्परिक सहानुभूति में तुम लोगों का दुःख कुछ कम होता।

भूमक—सम्राट् मुझे अपने दुर्भाग्य की चिन्ता नहीं है।

विक्रमादित्य—ठीक है, तुम्हें सन्तोष होगा कि अब हाथों से रहित होने पर तुम कपट करने के पाप से बचे रहोगे।

भूमक—यदि राजनीति ही कपट हो तो मैं उसमें पाप नहीं समझता फिर भी अपमानित होकर जीवित नहीं रहना चाहता। आप बधिक को आज्ञा दें कि वह हाथों के बदले मेरा सिर काट दे।

विक्रमादित्य—नहीं, यह आज्ञा नहीं दी जा सकती, विक्रमादित्य द्वन्द्व और रण-स्थल के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल पर प्राणदण्ड नहीं देता। मैं केवल तुम्हारे हाथ काटने की आज्ञा दे सकूँगा। फिर तुम्हारे खण्डित शरीर से मुझे अन्याय रोकने में भी सहायता मिल सकेगी। तुम दण्ड के प्रतीक बनकर इस प्रकार की न्याय-सभा करने के अवसर कम आने दोगे।

[बधिक का प्रवेश। अर्धनग्न, भयानक शरीर। कमर में जांघिया हाथों में कड़े। बाल खुले हुये। माथे पर त्रिपुण्ड और हाथ में कृपाण। वह आकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य—वधिक, तुम्हारे सामने यह एक शक अपराधी है। न्याय की आज्ञा है कि तुम इसके दोनों हाथ काट दो?

पुष्पिका—(आगे बढ़कर हाथ जोड़कर)—सम्राट् यदि आप राजकुमार को क्षमा नहीं करते तो मेरे भी दोनों हाथों के काटे जाने की आज्ञा दीजिए। अपने ऊपर उपकार करनेवाले को दण्डित होता हुआ देख कर मेरी आत्मा मेरा तिरस्कार कर रही है। सम्राट् मेरी प्रार्थना है।

विक्रमादित्य—(तीक्ष्ण स्वर) अपने स्थान पर ही रहो पुष्पिके! तुम्हारा न्याय हो चुका है। न्याय के आदेश में परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं है, जब तक कि अपराधी राज-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त न करे। मैं अपनी ओर से एक बार फिर अवसर दे सकता हूँ। क्षत्रप तुम प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो।

भूमक—(दृढ़ता से) नहीं।

विक्रमादित्य—(बधिक से) बधिक, अपना कार्य करो।

बधिक—(भूमक से) अपराधी, घुटने टेको।

(भूमक घुटने टेकता है)

बधिक—दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाओ।

(भूमक दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाता है)

विक्रमादित्य—शक-राजकुमार, इन हाथों से एक बार भगवान् ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर को प्रणाम करो, फिर प्रणाम करनेवाले ये हाथ नहीं रहेंगे।

भूमक—सम्राट् क्षमा करें, मैंने तीर्थंङ्करों और शक-सम्राटों के अतिरिक्त किसी को प्रणाम नहीं किया।

विक्रमादित्य—अब उन्हें दूसरे जन्म में प्रणाम करना। राजकुमार अब तुम प्रस्तुत हो।

भूमक—मैं प्रस्तुत हूँ सम्राट्।

विक्रमादित्य—(बधिक से) बधिक, अब तुम भी प्रस्तुत हो जाओ।

बधिक—जो आज्ञा (वह अपना कृपाण उठाता है।)

विक्रमादित्य—तुम और कुछ कहना चाहते हो क्षत्रप!

भूमक—कुछ नहीं सम्राट्! मैं केवल यही दुःख लेकर संसार में रहूँगा कि विक्रमादित्य सम्राट् माँगने पर भी मुझे मृत्यु नहीं दे सके। मुझे एक दुःख और रहेगा कि अब हाथों के न रहने से अपने सम्मान की रक्षा न कर सकूंगा।

पुष्पिका—(गहरी साँस लेकर) और समय पड़ने पर इन हाथों से किसी नारी की रक्षा नहीं हो सकेगी।

विक्रमादित्य—दो दुःख तुम्हारे और एक दुःख पुष्पिका का। तीन दुःख हुए। मैं इसके लिए आर्य-धर्म के तीन स्मारक बनाऊँगा। और कुछ? (कुछ रुककर) कुछ नहीं? (बधिक से) बधिक, महाकालेश्वर का अभिषेक हो।

[बधिक तलवार उठाकर वार करता है। पुष्पिका शीघ्रता से आगे बढ़ आती और उसके माथे में चोट लग जाती है। वह गिर पड़ती है। विक्रमादित्य शीघ्रता से उठकर समीप पहुँचते हैं।]

विक्रमादित्य—(बधिक से) बधिक, ठहरो। (बधिक सहमकर पीछे हट जाता है। गहरी साँस लेकर पुष्पिका से) पुष्पिके! यह तुमने क्या किया?

पुष्पिका—(टूटे स्वर से) अपने उपकारी की रक्षा सम्राट्!

भूमक—(उठकर) सम्राट्, प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—(उठकर) क्षत्रप! यदि तुम पहले ही प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो जाते तो पुष्पिका को चोट नहीं लगती।

भूमक—सम्राट, मुझे आपके शासन में उज्जयिनी की नारी की महत्ता ज्ञात नहीं थी। मैं यह नहीं जानता था कि आपने अपने शासन का आदर्श इतना ऊँचा रखा है, जिसमें नारियाँ उपकार का बदला देने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग तक कर सकती हैं।

विक्रमादित्य—तो तुम प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक—सम्राट् मैं प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य—(बधिक से) बधिक, तुम जा सकते हो।

(बधिक का सिर झुकाकर प्रस्थान)

विक्रमादित्य—(भूमक से) भूमक, मुझे प्रसन्नता है कि तुम प्रायश्चित करने के लिए तैयार हो। प्रायश्चित की पहली व्यवस्था यह है कि तुम पुष्पिका को अपनी वहन समझकर—यदि वह जीवित रही तो उसकी शुश्रूषा का भार लोगे। स्वीकार है ?

भूमक—(सिर झुकाकर) स्वीकार है सम्राट् ! (पुष्पिका के सिर को अपने घुटने पर रखता है।)

विक्रमादित्य—तो अपनी सारी प्रतिज्ञाओं को भगवान् महाकालेश्वर के मन्दिर में अभिमन्त्रित करो।

भूमक—मुझे स्वीकार है सम्राट् ! पुष्पिका के महान् उत्सर्ग में आप के चरित्र-बल की श्रेष्ठता छिपी हुई है। सुगन्धित पुष्प का विकास वसन्त में ही होता है। आप के शासन में मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे-जैसे आर्य-धर्म का सूर्य अपनी उज्ज्वल और प्रखर रश्मियों से भारतीय-मंडल में चमक रहा है और उसके सामने छल का कोई बादल नहीं आ सकता। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देख लिया कि आपके राज्य में कोई षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकता। आज मुझे गौरव है कि मैं आपका सेवक और आर्य-धर्म का सच्चा अनुयायी हूँ।

विक्रमादित्य—(हाथ उठाकर) तब तुम मुक्त हो क्षत्रप राजकुमार !

पुष्पिका—सम्राट्, (टूटे स्वर में) मेरी···प्रार्थना···पूरी······ हुई······मैं······कृतज्ञ······ हूँ। और··········मेरी······एक··· प्रार्थना···और है······आज······की·········अमर······घटना··· की······स्मृति···में······आपका······संवत्·········प्रचलित हो !

भूमक—हाँ सम्राट् अभी, तक के मान्य युधिष्ठिर-संवत् के स्थान पर विक्रम-संवत् का प्रचलन हो, यह मेरी भी प्रार्थना है।

विक्रमादित्य—(हाथ उठाकर) तथास्तु पुष्पिके ! तुम आदर्श नारी हो, तुम्हारी सुश्रूषा में राज्य की विशेष सहायता रहेगी। तुम्हारे आदर्श आचरण के कारण तुम्हारा अपराध भी क्षमा किया गया।

भूमक और पुष्पिका—(सम्मिलित स्वर) सम्राट् विक्रमादित्य की जय हो !

(सम्राट् विक्रमादित्य अभय-मुद्रा में हाथ उठाते हैं।)

(परदा गिरता है।)

शब्दार्थ

कक्ष—भवन का एक हिस्सा, गृहखण्ड। मेहराब—द्वार के ऊपर की धनुषाकार बनावट। मृणाल—कमल का डण्ठल। क्षिप्रा—मध्य-प्रदेश में बहनेवाली नदी, जिसके किनारे उज्जैन है, चम्बल की सहायक। शलाकायें—धातु की बनी तीलियाँ या गोलाकार प्रकाश-पेटियाँ। प्रशस्त—सौभाग्यवान्। उच्छलतरङ्ग—ऊँची उठती हुई लहरें। सीमन्त—सिर के बीच बालों को सँवार कर निकली हुई माँग। बन्धूक-पुष्प—लालरंग का गुलदुपहरिया फूल। विकृति—विरूप होना, यहाँ स्वर के कर्कश हो जाने से तात्पर्य है। विदिशा—आजकल का भिल्सा नगर। स्तूप—शिखर। अभियोगिनी—वह, जो अपने प्रति

किये गये अपराध को अधिकारी के सामने उपस्थित कर न्याय चाहती हो। छद्मवेशी—छलकपट से घिरे हुए। निर्भीक—निडर। उषावेला—सूर्योदय से थोड़ा पहले का समय। वातायन—दीवाल के बीच बना हुआ झरोखा, खिड़की। समीरण—हवा, पवन। पुष्पराग—फूल की आभा, यहाँ केवल बगीचे का नाम। चयन—चुनना। स्तम्भित—दृढ़। प्रतिकार—बदला। दन्तिका—कटारी व छुरा-जैसा छोटा शस्त्र। अभियुक्त—अपराधी जिसके विरुद्ध अभियोग (अपराध) लगाया गया हो। कटिबन्ध—कमरबन्द। स्वस्तिक-तिलक—स्वस्तिक के आकार का माथे का टीका। उद्भ्रान्त—घबराया हुआ, व्याकुल-चित्त। प्रतिशोध—बदला। इन्द्रजाल—कपट को सत्य सिद्ध करनेवाला कुचक्र या मन्त्रणा। वस्त्रविन्यास—पहिनावा। अवहेलना—अनादर, उपेक्षा। आतंक—प्रताप। कपिशा—अफगानिस्तान का ऊपरी भाग। शाहानुशाही—एकाधिकारपूर्ण शासन करनेवाले। क्षत्रप—शकशासकों की उपाधि, जिसका अर्थ है प्रान्त या मंडल विशेष के शासक, अधिकारी, राज्यपाल। अभिसन्धि—षड्यंत्र। प्रतिदान—बदले में उपकार। ज्योतिर्लिङ्ग महाकालेश्वर—उज्जैन में स्थापित भगवान शङ्कर का नाम। उत्सर्ग—त्याग, भेट चढ़ा देना। सुश्रूषा—सेवा टहल। सौराष्ट्र—संप्रति, यह प्रदेश महागुजरात में मिला दिया गया। अभिमन्त्रित—आवाहित करना, कहना, दुहराना, पवित्र करना। यहाँ ध्यानपूर्वक दुहराने से तात्पर्य है। यन्त्रणा—मानसिक कष्ट। विदीर्ण—फट जाना। पुष्पों की विविधता—रंग-विरंगे फूल। तिल की ओट में नहीं छिपा सकती—छोटा-सा कारण दिखाकर अपनी बहुत बड़ी कमजोरी को झूठ नहीं सिद्ध कर सकती। लांछित—अपमानित। विरुद—प्रशस्ति, बड़प्पन, यश। बाहुबल में केन्द्रितकर......सारा अधिकार अपने हाथ में लेकर, कवरी (कबरी)—

गूँथी हुई चोटी, केशों का सँवारा हुआ जूड़ा। कालिदास—भारत के विश्व-विख्यात कवि, जिन्होंने संस्कृत भाषा में बहुत रोचक उच्चकोटि के नाटक और काव्य लिखे हैं। इनके समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है। बहुमत से ये ५७ ई० पू० उज्जयिनी के सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा में रहे, इसी आधार पर डॉ० वर्मा ने इनका उल्लेख इस नाटक में किया। स्तन्य—माता का दूध। काण्ड—राज्य के किसी हिस्से में होने वाली घटना। अवहेलना—कुछ न समझना, तिरस्कार। कारागार—जेल। आंशिक—थोड़ा, कुछ। श्रद्धावाक्य—कृतज्ञता प्रकट करने की बातें। प्रतीक—मूर्त्ति। तीर्थंकर—जैनधर्म का संचालन करनेवाले आचार्य।

सच्चा-धर्म

पद्मभूषण
सेठ गोविन्द दास

पात्र

पुरुषोत्तम—दिल्ली-निवासी एक महाराष्ट्र ब्राह्मण

अहिल्या—पुरुषोत्तम की पत्नी

सम्भाजी—शिवाजी का पुत्र

दिलावरखाँ—औरंगजेब की खुफिया जमात का एक सरदार

रहमानबेग—दिलावर का मातहत

श्री सेठ गोविन्ददास

जन्म संवत्—१९५३ : जन्मस्थान—जवलपुर (मध्य प्रदेश)

सेठजी का जन्म वहुत बड़े सम्भ्रान्त परिवार में हुआ है। राज-नीति में सक्रिय भाग लेने के साथ सेठ जी साहित्य-सर्जन में भी लगे र हैं और हिन्दी के अच्छे नाटककार के रूप में इनकी ख्याति है। ये स्वभाव के बड़े सरल और गम्भीर व्यक्ति हैं। इस समय सेठ जी संस के सदस्य (एम० पी०) हैं। ये हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति भ रह चुके हैं।

सेठ जी ने सवसे पहले संवत १९७४ में 'विश्वप्रेम' नाम का नाट लिखा था। तव से अव तक इन्होंने राजनीतिक जीवन से अवका निकाल कर पचीसों नाटक तथा एकांकी लिखे हैं। राजनीति आन्दोलन में रहने के कारण इन्हें वर्तमान सामाजिक समस्या ने भ खूव प्रभावित किया है। वह प्रभाव इनके नाटकों के विविध पात्रों मे दिखायी पड़ता है।

इनके नाटकों की शैली अधिकतर व्यंग्यात्मक है। नाटकों के पात्र उच्चवर्ग के और नागरिक हैं। भाषा विशुद्ध खड़ी बोली है, मुहावरे का भी प्रयोग मिलता है। संवाद कलात्मक हैं।

सेठ जी के प्रमुख नाटकों के नाम ये हैं।

विश्वप्रेम, नवरस, प्रकाश, कर्त्तव्य (पूर्वार्ध-उत्तरार्ध), हर्ष विकास, शशिगुप्त, प्रेम या पाप, दलित कुसुम, गरीवी या अमीरी, कर्ण, शेरशाह, षट्दर्शन, भूदान, भारतेन्दु।

एकांकी :—

स्पर्धा, सप्तरश्मि, एकादशी, पञ्चामृत, अष्टदल, चतुष्पथ, कुछ आप वीती कुछ जग वीती।

सच्चा-धर्म

पहला दृश्य

स्थान---दिल्ली में पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय---मध्याह्न के निकट]

[कमरा छोटे से मकान के छोटे-से कमरे सदृश दिखायी देता है, दीवारें स्वच्छता से पुती हुई हैं। दीवारों में जो दरवाजे खिड़कियाँ हैं, उनके बाहर की एक तंग गली के कुछ मकान दिखायी पड़ते हैं। एक दरवाजे से नीचे उतरने के लिए जीने की कुछ सीढ़ियाँ दिखायी देती हैं, कमरे की छत में कांच की कुछ हाड़ियां लटक रही हैं। कमरे की जमीन पर आधे में बिछायत है और आधी खाली। कमरे में पुरुषोत्तम बेचैनी से इधर-उधर टहल रहा है। पुरुषोत्तम की अवस्था लगभग साठ वर्ष की थी। वह गेहुँएँ रङ्ग और साधारण शरीर का मनुष्य है। सिर के बाल मराठी ढङ्ग के हैं अर्थात् पीछे शिखा है उसके चारों ओर छोटे-छोटे बाल और उसके चारों तरफ के बाल मुड़े हुए। मुख पर बड़ी-बड़ी मूछें हैं। सारे बाल तीन चौथाई से अधिक सफेद हैं। वह लाल रङ्ग की रेशमी उपरना ओढ़े है। उसी रङ्ग का रेशमी सोला पहने है। उसके सिर पर श्वेत चन्दन का त्रिपुण्ड लगा हुआ है और वक्षस्थल पर मोटा यज्ञोपवीत दिखायी देता है। अहिल्या का प्रवेश। अहिल्या करीब पचपन वर्ष की अवस्था की गेहुँएँ और स्थूल शरीर की स्त्री है, बाल बहुत से सफेद हो गये हैं। वह मराठी ढंग से लाल चारखाने की साड़ी और वैसी ही चोली पहने हुए है, कुछ सोने के आभूषण भी पहने है।]

अहिल्या—अभी·········अभी वही हाल है, कोई निर्णय नहीं हो सका।

पुरुषोत्तम—(खड़े होकर) अहिल्या, यह प्रश्न कोई साधारण प्रश्न है।

अहिल्या—(बैठकर) कम से कम तुम सदृश सत्यवादी व्यक्ति के लिए तो ऐसे प्रश्नों में असाधारणता नहीं होनी चाहिए। जन्म भर तुम्हारा सत्य-व्रत अटल रहा। तुम सदा कहते रहे हो कि जीवन में यदि मनुष्य एक सत्य का आश्रय लिये रहे तो वह सत्य स्वयं ही सारे प्रश्नों का निराकरण कर देता है पर जब मनुष्य सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा लेता है, तभी तरह-तरह के प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

पुरुषोत्तम—(बैठकर आश्चर्य से) सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा? मैं सत्य का आश्रय छोड़ मिथ्या का आसरा ले रहा हूँ।

अहिल्या—और क्या कर रहे हो? सम्भाजी को शिवाजी तुम्हारे पास रख गये हैं, यह क्या सच नहीं है? जो लड़का तुम्हारे पास रहता है वह तुम्हारा भानजा है, यह कहना सच बोलना है?

पुरुषोत्तम—सम्भाजी को सम्भाजी न कहकर अपना भानजा कहना, शिवाजी मेरे पास सम्भाजी को नहीं रख गये हैं, यह कहना साधारण सच बोलने से कहीं बड़ा सत्य है।

अहिल्या—तुम्हारी सत्य-प्रियता अधिकांश दिल्ली में प्रसिद्ध है, इसी के कारण यवन तक तुम्हारा आदर करते हैं, हमारे विवाह को चालीस वर्ष हो चुके परन्तु आज तक मैंने तुम्हारे मुख से कोई मिथ्या वाक्य क्या, मिथ्या शब्द और मिथ्या शब्द ही नहीं, मिथ्या अक्षर तक

न सुना। वही आज तुम बड़ी मिथ्या बात कहकर उसे साधारण सत्य भाषण से बड़ा सत्य कह रहे हो।

पुरुषोत्तम—अहिल्या, हमारे शास्त्रों में सत्य और असत्य की व्याख्या बड़ी बारीकी से की गई है। अनेक बार सत्य के स्थान पर मिथ्या भाषण सत्य से भी बड़ी वस्तु होती है। जीवन में धर्म से बड़ी कोई चीज नहीं, धर्म की रक्षा यदि असत्य से होती है तो असत्य सत्य से बड़ा हो जाता है।

अहिल्या—धर्म की रक्षा ! अब तो तुमने और बड़ी बात कह दी। सम्भाजी को अपना भानजा बनाने से तुम धर्म की रक्षा कर सकोगे ! दिलावरखाँ कह गया है कि वह उसे तुम्हारा भानजा तब मानेगा जब तुम उसके साथ बैठकर एक थाली में भोजन करोगे। ब्राह्मण होकर अब्राह्मण के साथ भोजन करने से धर्म की रक्षा हो सकेगी ?

पुरुषोत्तम—(उठकर फिर टहलते हुए) अहिल्या, यही···यही प्रश्न मुझे व्यथित किये हुए है। जीवन भर मैंने जिस प्रकार धर्म का पालन किया है, उसे तुमसे अधिक और कोई नहीं जानता······नहीं··· नहीं···भगवान् तुमसे भी अधिक जानते हैं (फिर बैठकर) मैंने त्रिकाल संध्या, तर्पण, हवन इत्यादि सारे ब्राह्मण-कर्म नियमपूर्वक किये हैं; शौच-अशौच का सदा पूर्ण विवेक रखा है; भक्ष्याभक्ष्य की ओर अधिक ध्यान दिया है, ब्राह्मण को छोड़कर किसी के हाथ का छुआ जल तक ग्रहण नहीं किया, वही वही मैं इस चौथेपन में अब्राह्मण के साथ बैठकर एक ही थाली में कैसे खाऊँगा, यह प्रश्न मुझे व्यथित···अत्यधिक व्यथित किये हुए हैं।

अहिल्या—मैंने तो कहा जन्म भर जिसके आश्रय में रहे हो,

उस सत्य को न छोड़ो। औरंगजेब के सदृश बादशाह के राज्य में उसकी राजधानी में रहते हुए, हिन्दू और ब्राह्मण होते हुए भी तुम यह सफल-जीवन उसी सत्य के आश्रय के कारण बिता सके हो। इस चौथेपन में वह आसरा छोड़ने से बुरी और बात नहीं हो सकती विशेषकर तब जब उस आसरे का सुफल तुम देख चुके हो। धर्म की टेढ़ी-टेढ़ी व्याख्याओं में पड़कर अपना जीवन भर का सीधा मार्ग छोड़ अपने और अपने कुटुम्ब को नष्ट मत करो।

पुरुषोत्तम—तो मैं यह कह दूँ कि लड़का शिवाजी का पुत्र सम्भाजी है मेरा भानजा नहीं। मिठाई की टोकरी में छिपाकर दिल्ली से भागते समय शिवाजी उसे मेरे पास छोड़ गये हैं।

अहिल्या—कम से कम तुम्हें सत्य बात कहने में पशोपेश होना ही न चाहिए।

पुरुषोत्तम—और इसका परिणाम क्या होगा ?

अहिल्या—परिणाम जो कुछ हो। तुम सदा कहते नहीं रहे हो कि सत्य बोलने के सम्मुख परिणाम की ओर मनुष्य को दृष्टि ही नहीं डालनी चाहिए ?

(पुरुषोत्तम सिर नीचा कर विचार-मग्न हो जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।)

पुरुषोत्तम—(एकाएक सिर उठाकर) नहीं-नहीं......नहीं-नहीं यह कभी नहीं हो सकता, यह कभी नहीं हो सकता। यह......यह विश्वासघात होगा......ऐसा ऐसा पातक, जिससे बड़ा पातक सम्भव

ही नहीं वह·········यह शरणागत का बलिदान होगा; ऐसा······ऐसा दुष्कर्म जिससे बड़ा हो नहीं सकता है।

अहिल्या—पर दूसरी ओर तुम सत्य को तिलांजलि दे रहे हो। अब्राह्मण के साथ भोजन कर धर्म-नष्ट होने का प्रश्न तुम्हारे सम्मुख है और स्वयं के भ्रष्ट होने का नहीं, पर सारे कुटुम्ब के नष्ट हो जाने का······

पुरुषोत्तम—(उठकर टहलते हुए) ओह ! ओह

[तंग गली के कुछ मकान दिखाई पड़ते हैं। दिलावरखाँ और रहमानबेग खड़े हैं। दोनों अधेड़ अवस्था और गेहुँएँ रंग के ऊँचे पूरे व्यक्ति हैं, दिलावरखाँ के दाढ़ी भी है। दोनों उस समय की सैनिक वरदी लगाए हुए हैं।]

लघु-जवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—दिल्ली की एक गली

समय—मध्याह्न के निकट

दिलावरखाँ—(विचार करते हुए) पण्डित पुरुषोत्तम राव झूठ बोलेंगे,······ऐसा यकीन तो नहीं होता।

रहमानबेग—जनाव, तमाम देहली में कौन ऐसा होगा, उन्हें जानता न हो और यह मानता हो कि वे कभी झूठ बोल सकते हैं।

दिलावरखाँ—(उसी प्रकार विचारते हुए) लेकिन रहमानबेग वह लड़का दक्खनी बिरेहमन दिखलाता नहीं।

रहमानबेग—सिर्फ सूरत से कह सकना कि कौन बिरेहमन है और कौन नहीं, यह तो एक बड़ी मुश्किल बात है।

[कुछ देर निस्तब्धता। दिलावरखाँ गम्भीरता से सोचता है। और रहमानबेग उसकी तरफ देखता है।]

रहमानबेग—(कुछ देर बाद) फिर आपने तो पण्डित की बात पर ही यकीन करके मामले को नहीं छोड़ दिया, आपने तो उसे बहुत बड़ा सुबूत देने के लिए कहा है। पुरुषोत्तम राव की बात ही काफी है, फिर अगर उस लड़के के साथ बैठकर खाना खा लेता है तब तो शक की गुंजायश ही नहीं रह जाती।

दिलावरखाँ—(सिर उठाकर) हाँ, कोई बिरेहमन किसी नीची कौम के साथ बैठकर थोड़े ही खा सकता है।

रहमानबेग—और दक्खनी बिरेहमन मराठा के साथ, चाहे जान निकल जाय तो भी न खायगा।

दिलावरखाँ—पुरुषोत्तम राव के मानिन्द बिरेहमन तो कभी नहीं।

रहमानबेग—कभी नहीं, कभी नहीं !

दिलावरखाँ—(ऊपर की तरफ देखकर) तो दोपहर हो रहा है। पूजा-पाठ के बाद उसने दोपहर को ही खाने के वक्त बुलाया था।

रहमानबेग—हाँ वक्त, हो रहा है, चलिए।

(दोनों का प्रस्थान)

लघु जवनिका

●

तीसरा दृश्य

स्थान—पुरुषोत्तम के मकान का एक कमरा

समय—मध्याह्न

[दृश्य पहले के सदृश ही है। पुरुषोत्तम और अहिल्या बैठे हुए हैं। अहिल्या का मुख प्रसन्नता से खिल-सा गया है, परन्तु पुरुषोत्तम के मुख पर वैसी ही उद्विग्नता दृष्टिगोचर होती है, पुरुषोत्तम पृथ्वी की ओर देख रहा है।]

अहिल्या—(ऊपर की ओर देखकर) धन्यवाद, अगणित वार धन्यवाद है भगवान् को कि अन्त में सत्य की उसने विजय करा दी। (पुरुषोत्तम की ओर देखकर) दिन भर का भूला-भटका यदि रात को भी घर लौट आये तो वह भूला नहीं कहलाता। उद्वेग के कारण तुमने एक वार मिथ्या अवश्य बोल दिया पर देर··बहुत देर नहीं हुई, अभी भी समय था। दिलावरखाँ के आने के पहले तक समय था। अब उससे सारी बातें सच-सच कह देने पर मिथ्या भाषण के पाप से तुम मुक्त हो जाओगे। जन्म भर जिस सत्य का आश्रय ले रखा है उसी की शरण में रहने से कोई आपत्ति भी नहीं आयेगी?

(पुरुषोत्तम कोई उत्तर नहीं देता, अहिल्या उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता।)

अहिल्या—(कुछ देर बाद पुरुषोत्तम की ओर देखते हुए) देखा, देखा नहीं, एक केवल एक वार सत्य का आसरा छोड़ते ही कैसी······कैसी महान् आपत्ति आयी। एक मिथ्या को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में कितनी मिथ्या बातें कहनी पड़ती हैं, तुम सदृश सत्यवादी से अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रमाण, महाभयङ्कर प्रमाण

तुम्हारा मराठा के साथ, अब्राह्मण के साथ, एक स्थल में भोजन। ओह ! यह…यह कभी संभव था।

(पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता, पर दृष्टि उठा अहिल्या की ओर देखने लगता है; अहिल्या चुपचाप उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।)

अहिल्या—(कुछ देर बाद) जन्म भर का सारा पूजन-अर्चन समाप्त हो जाता है। जीवन भर के सारे नियमव्रत भङ्ग हो जाते। न जाने कितने जन्मों के पुण्यों के कारण ब्राह्मण-कुल में जन्म दिया था और ऐसे शुद्ध ब्राह्मण-कुल में। फिर इस जन्म में भी ब्राह्मण-धर्म का कैसा पालन किया था। कभी सन्ध्या न छोड़ी, कभी तर्पण न त्यागा, कभी हवन न छोड़ा, किसी का छुआ जल तक पान न किया था। सब…सब चला जाता। स्वयं…स्वयं ही भ्रष्ट न होते, परन्तु… परन्तु सारा कुल भ्रष्ट हो जाता। लड़कियाँ कुंवारी रह जातीं। लड़के की सन्तति अब्राह्मण हो जाती। (कुछ रुककर) होता…होता कैसे ? ऐसा जन्म भर का सत्कर्म पल भर में नष्ट कैसे हो जाता ? भगवान् कैसे होने देते ?

(पुरुषोत्तम फिर कुछ नहीं बोलता; पर चुपचाप उठकर टहलने लगता है। अहिल्या कुछ देर तक बैठे-बैठे उसकी तरफ देखती रहती है और फिर उठकर उसी के साथ टहलने लगती है।)

अहिल्या—(टहलते-टहलते) और फिर यह सब किसी अपने के लिए नहीं, दूसरे-दूसरे के लिए।

(पुरुषोत्तम चुपचाप खड़ा होकर अहिल्या की ओर देखने लगता है। अहिल्या भी खड़ी हो जाती है।)

अहिल्या—हां, क्या…क्या प्रयोजन है हमें शिवाजी से और उसके इस पुत्र सम्भाजी से ? दूसरे के लिए हम क्यों अपना इहलोक और परलोक बिगाड़ें स्वयं नष्ट हों और अपने कुल को नष्ट करें ? (कुछ रुक कर) सोचो जरा सोचो तो कहीं औरंगजेब को पता लग जाय कि तुमने शिवाजी के पुत्र को आश्रय दिया और…उसे बचाने के लिए झूठ बोले और…और उस झूठ को सत्य सिद्ध करने के लिए अपने धर्म-कर्म की भी परवाह न कर उसके साथ एक थाल में भोजन तक किया तो… वो औरंगजेब के सदृश बादशाह क्या करे तुम्हारा और तुम्हारे सारे कुटुम्ब का ?

(पुरुषोत्तम फिर भी कुछ न कह टहलने लगता है। अहिल्या भी उसके साथ टहलती है। कुछ देर निस्तब्धता।)

अहिल्या—(कुछ देर बाद) ठीक…ठीक समय भगवान् ने तुम्हें सुबुद्धि दी। सारा हाल सच-सच कह देने से अच्छा निर्णय हो ही नहीं सकता था। परलोक बचा, क्योंकि मराठा के साथ खाने से जो धर्म जाता वह धर्म बच गया। इहलोक बचा क्योंकि राज्यभय नहीं रह जायगा…इतना…इतना ही नहीं, सम्भाजी को पाते ही तुम्हारे जरिये पाते ही औरंगजेब कितना…कितना खुश होगा तुम पर !… कदाचित् कदाचित् तुम मनसवदारी हो जाओ, तुम न भी हुए… अर्थात् तुमने यदि मनसबदारी अस्वीकृत भी कर दी, तो-तो मनसवदार हो सकता है हमारा लड़का। अरे ! उन लड़कियों का सम्बन्ध तक अच्छे से अच्छे स्थान पर हो सकेगा।…कितना…कितना परिश्रम तुम कर चुके हो इन लड़कियों के लिए योग्य वर ढूंढ़ने का बादशाह …हाँ, बादशाह की कृपा के पश्चात् कौन…कौन वस्तु दुर्लभ रह जायगी ? (कुछ रुक कर) और…और यह सब होगा किस कारण…

उसी···उसी सत्य की शरण के कारण, जिसका जीवन हाँ, जीवन भर तुमने आश्रय रखा है ।

(नेपथ्य में 'पण्डित जी पण्डित जी' ! शब्द होता है)

अहिल्या—(जल्दी से) लो···लो, कदाचित् दिलावरखाँ आ गया । अब···अब सब बातचीत स्पष्ट रूप में कर लो उससे··· (शीघ्रता से प्रस्थान) ।

पुरुषोत्तम—(जिसके मुख का रंग ही दिलावरखाँ की आवाज सुन और ही हो गया है, गला साफ करते हुए खिड़की के पास जा, मुख बाहर निकाल नीचे देखते हुये) अहा हा ? दिलावरखाँ साहब ! आइये आ जाइये ।

(दिलावरखाँ और रहमानबेग का प्रवेश)

पुरुषोत्तम—आइए, आइए, मैं पूजा से उठ आप ही लोगों का रास्ता देख रहा था । बैठिए ।

दिलावरखाँ—(बिछायत पर बैठते हुये) आप भी तो बैठिए, पण्डित जी ।

(दिलावरखाँ और रहमानबेग बिछायत पर बैठ जाते हैं ।)

पुरुषोत्तम—पूजा के पश्चात् भोजन तक मैं किसी वस्त्र आदि का स्पर्श नहीं करता । पहले आपको झंझट से मुक्त कर दूँ ।

दिलावरखाँ—(कुछ सहमते हुए) आपके मुआफिक मुआजिज शख्स के लिए जो सबूत मैंने माँगा उसकी कोई जरूरत तो नहीं है, आपकी बात ही सबूत होनी चाहिए, लेकिन···लेकिन आप जानते हैं कि ये सारे सियासी मामलात···

पुरुषोत्तम—नहीं-नहीं आप कोई संकोच न कीजिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करना धर्म ही है। मैं···मैं भी आपको पूर्ण रूप से संतुष्ट कर दूंगा। (जिस दरवाजे अहिल्या गयी है उसी से जाता है।)

रहमानबेग—जनाव, अब भी शक की कोई गुंजाइश बाकी है।

दिलावरखाँ—वह खाये तो लौंडे के साथ पहले मेरे सामने।

रहमानबेग—पर खाने के बाद !

दिलावरखाँ—हाँ खाने के बाद तो शक की कोई गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए।

(दिलावरखाँ और रहमानबेग उत्कण्ठा से जिस दरवाजे से पुरुषोत्तम गया है उस दरवाजे की ओर देखते हैं। पुरुषोत्तम का एक हाथ में परसी हुई थाली और दूसरे हाथ में जल का कलश लिए हुए प्रवेश। थाली में भात, दाल, शाक इत्यादि परसे हुए हैं। पुरुषोत्तम की सारी उद्विग्नता नष्ट हो, उसका मुख प्रसन्नता से चमक रहा है। उसके पीछे-पीछे सम्भाजी आता है। पुरुषोत्तम बिना बिछायत की भूमि पर थाली रखता है, उसी के निकट जल का कलश। थाली के दोनों ओर पुरुषोत्तम और सम्भाजी बैठ जाते हैं : पुरुषोत्तम भोजन का थोड़ा अंश निकाल जमीन पर रख थाली के चारों ओर जल छिड़कता है।)

पुरुषोत्तम—(जल छिड़कते हुए) 'सत्यन्त्वर्तेन परिषिञ्चामि'★

(अब आचमन करते हुए) 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'।+

[अब पुरुषोत्तम और सम्भाजी दोनों उसी थाली में से खाना आरम्भ करते हैं।]

★मैं ज्ञान को प्रकृति (जल) से सींच रहा हूँ। +हे ब्रह्म (जल) तू अमृत (जीवात्मा) का बिछौना है, मैं अपने प्राणों में तेरी आहुति देता हूँ।

पुरुषोत्तम—(खाते-खाते) कहिए, खाँ साहब अब···अब तो आपको विश्वास हुआ या नहीं कि विनायक मेरा भानजा है ?

(दिलावरखाँ का मुख शर्म से झुक जाता है। रहमानबेग कभी दिलावरखाँ की तरफ़ देखता है और कभी पुरुषोत्तम को ओर)

जवनिका

●

शब्दार्थ

उपरना—दुपट्टा। सोला—धोती की तरह पहनने का रेशमी वस्त्र। पशोपेश—तर्क-वितर्क, आगा-पीछा सोचने की स्थिति। निस्तब्धता—शान्त वातावरण। मानिन्द—सम्मान-योग्य। त्रिकालसन्ध्या—प्रातः, दोपहर और सायंकाल किया जानेवाला ईश्वर का ध्यान। तर्पण—पितरों के नाम जल देना। मनसबदार—मुगलकाल में बादशाह के यहाँ मनसब (वृत्ति) पानेवाला अधिकारी, दरबारी विशेष। मुआजिज—ईश्वर का ध्यान करनेवाला। मुआफ़िक़—समान। सियासी—राज-काज से सम्बन्धित। मामलात—झगड़ा, विवाद की बातें। उत्कण्ठा—लालसा, बेचैनी। उद्विग्नता—चिन्तित होने की अवस्था।

●

कुमार-सम्भव

उदयशङ्कर भट्ट

पात्र

सरस्वती	शंकर
पार्वती	गणेश
महाराज चन्द्रगुप्त	सम्राट्
कालिदास	कवि
धन्वन्तरि	वैद्य
राजामात्य	महामन्त्री
गणदास	नाट्य शिक्षक
हरदत्त	,,

ध्रुवदेवी, कुबेरनागा, प्रभावती, विलासवती आदि

स्थान

हिमालय — अवन्ती

उदयशङ्कर भट्ट

जन्म—संवत् १९४५ : जन्म-स्थान-इटावा (उत्तर प्रदेश)

निधनकाल—संवत् २०२२ विक्रम

भट्टजी जिला बुलन्दशहर में कर्णवास स्थान के रहनेवाले औदीच्य ब्राह्मण थे। इनको जीवन के आरम्भ में तुलसीदास की तरह मातृ पितृहीन होकर भोजन के लिए भटकना पड़ा था, फिर भी इन्होंने काशी में जाकर संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया, संस्कृत भाषा और साहित्य-पर इन्हें अच्छा अधिकार था। इनका स्वभाव बड़ा ही उदार और शीलवान् रहा। इधर अभी हाल में ये दिवंगत हो गये।

भट्टजी ने हिन्दी में काव्य और उपन्यास भी लिखे हैं किन्तु वे विशेषतः नाटककार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तीन प्रकार के नाटक लिखे हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक। नाटकों में पौराणिक विषयों का जितना अच्छा उपयोग भट्टजी ने किया है उतना किसी दूसरे नाटककार ने नहीं। भट्टजी की शैली अधिकतर भावात्मक है, केवल लम्बे संवाद ही विचारात्मक हैं, उसकी भाषा में उर्दू के शब्द कम, संस्कृत के विशुद्ध तत्सम शब्द ही अधिक पाये जाते हैं। ये हिन्दी के एक सफल नाटककार थे। भट्टजी की नाटक-रचनायें ये हैं—

एकांकी संग्रह—अभिनव एकांकी नाटक, स्त्री का हृदय, समस्या का अन्त, धूमशिखा।

गीतनाट्य—मत्स्यगंधा, विश्वामित्र, राधा।

नाटक—विक्रमादित्य, सिंधुपतन, अम्बा, सगरविजय, कमला, अन्तहीन अन्त, मुक्तिपथ, एकला चलो, आदिमयुग, शकविजय, कालिदास, मेघदूत, विक्रमोर्वशी, अन्धकार और प्रकाश, क्रान्तिकारी।

कुमार-सम्भव

१

[दो प्रासादों के बीच में एक उद्यान। उद्यान में कदली-फल नारङ्गी, ताल, तमाल, हिंताल, चम्पक, अशोक, आम्र, जामुन के वृक्ष हैं। अधोपुष्पी, नागक, तुम्बरी की लताएँ चम्पा, मालती, गेंद यूथिका, रजनीगन्धा के पौधे हैं, बीच में स्फटिक निर्मित लघु सर है, जिसमें नील, रक्त, श्वेत, पीत कमल खिले हुए हैं। सरोवर के चारों ओर बैठने की स्फटिक शिलाएँ, उत्तर की तरफ लतामण्डप, पूर्व की ओर पश्चिम वाटिका विहार बने हैं। सरोवर में सारस, हंस, बतकों के जोड़े घूम रहे हैं शंख और सीपी की बनी हुई प्रतोली में राजपरिचारिकाएँ भिन्न प्रकार से कौशेय वस्त्र, अलंकार धारण किये आ-जा रही हैं। परिचारिकाओं की बेणी लटकती हुई कंचुकी पहने। कौशेय वस्त्र। मस्तक में कस्तूरी तिलक, भुजाओं में अंगद, वलय मणिबंध, गले में ग्रैवेयक। पैरों में चपली की तरह पादत्राण। अंगुलियों में रत्नजड़ित मुद्राएँ। एक प्रासाद से दूसरे प्रासाद तक जाने में थोड़ा ही मार्ग पार करना पड़ता है। एक प्रासाद महाराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का है, दूसरा महारानी ध्रुवदेवी का, दो परिचारिकाएँ हाथों में फूल, मिष्ठान्न तथा शाटकों से युक्त ढके हुए थाल लिये आती हैं। ये प्रासाद के साधारण द्वार हैं, महाद्वार नहीं। दोनों के पास दो प्रतिहार खड़े हैं, दूर से वाद्यों की ध्वनि आ रही है, जिसके कई स्वर समवेत हैं। पहिली परिचारिका कौशेय शाटिका से जिसके पैर उलझ गये हैं और गिरना ही चाहती है। समय प्रातःकाल दस बजे।]

दूसरी परिचारिका—अरे वासन्ती, तनिक देखकर तो चलो। क्या सौन्दर्य इतना दुर्वह हो गया है ? (हँसती है)

वासन्ती—सखि ! क्या वताऊँ, तुम नहीं जानती यह कौशेयपट्ट मेरे लिए भार हो गया है। सौन्दर्य तो भला क्या भार होगा ?

मधुरिका—यह हाथ में क्या सामग्री है ?

वासन्ती—आज कुमार का चालीसवाँ दिवस है, महरानी का शृङ्गार हो रहा है इसलिए ये जालपट्टक लिये जा रही हूँ।

मधुरिका—ओह समझी। महारानी की परिचारिका का गौरव भी थोड़ा नहीं। क्या इसीलिये आज नवपरिधान मिला है ?

वासन्ती—सब परिचारिकाओं को महाराज की ओर से एक-एक रत्नहार देने की घोषणा हुई है न !

मधुरिका—सुनती तो हूँ। आह कितना सुन्दर दिन है आज, तुम भी तो बहुत सुन्दर लग रही हो।

पहला प्रतिहारी—छवि फूटी पड़ रही है साक्षात् महाश्वेता हो जैसे।

दूसरा प्रतिहारी—कश्मीर-किन्नरी जो हुई। एक ये हैं कोंकण की श्रीमती लवंगलता।

मधुरिका—(तीक्ष्ण दृष्टि से देखती हुई) अपना रूप तो देखो, जैसे बाँस को वस्त्र पहना दिये गये हों।

पहला प्रतिहारी—यह बाँस अब शीघ्र ही बुहारी की सींक हो जानेवाला है।

दूसरा प्रतिहारी—प्रतीक्षा की भी कोई सीमा है वासन्ती ! स्वयं

मधुरिका को मना सकूँ। हाँ, यदि मुझे एक क्षण भी कविवर कालिदास का रूप मिल जाता फिर देखता कौन भुवनमोहनी मुझसे दूर भागती।

पहला प्रतिहारी—बबूल का पेड़ कभी द्राक्षा-वल्लरी नहीं हो सकता।

दूसरा प्रतिहारी—आज दस वर्ष से तप कर रहा हूँ!

पहला प्रतिहारी—तप का फल मीठा होता है मन्थरक! धैर्य धारण करो।

वासन्ती—तुमने सुना सखि! आज कविवर महाराज और महारानी को वह ग्रन्थरत्न भेंट करनेवाले हैं जो उन्होंने कुमार के जन्मोत्सव पर लिखा है आज सायंकाल को वह कृत्य सम्पन्न होगा।

मधुरिका—हाँ, अभी अभी सुना है भट्टारक महाराज राजामात्य से कह रहे थे कि कविवर स्वयं उस ग्रन्थ का कुछ अंश हमको सुनाएँगे। आज ही ग्रन्थ समाप्त होगा न उसी के निमित्त आज उत्सव हो रहा है ओह, कितने महान् कवि हैं कालिदास।

वासन्ती—साक्षात् सरस्वती उनके मुख से बोलती हैं। मेरे देव कश्मीर में एक से एक महान् पण्डित हैं, कवि हैं किन्तु ऐसा रस तो किसी की कविता में नहीं पाया। उस दिन वे महाराज को 'कुमारसम्भव' के अंश सुना रहे थे।

पहला प्रतिहारी—वह ब्रह्मचारी वाला अंश क्या? वाह कितना सुन्दर है।

वासन्ती—हाँ वही : सुनकर मेरी आँखों से झर-झर अश्रु पात होने लगा। पार्वती का कितना सुन्दर वर्णन है मधुरिका, और पाठ-

माधुर्य, मानो सरस्वती वीणा पर गा रही हों। इतना रस, पदाभिव्यक्ति सरसता। मैंने देखा स्वयं महाराज उसे सुनकर कभी गद्गद् हो उठते थे।

मधुरिका—काञ्चन को रत्न मिल गया है। हमारे महाराज का परम सौभाग्य है कि ऐसे महान् कवि उनके राज्य में हैं।

दूसरा प्रतिहारी—तो हमारे महाराज क्या कम है? संसार में ऐसा सौभाग्य है कि ऐसे महान् सम्राट् हुआ ही कौन है।

वासन्ती—सम्राट् तो ऐसे हो गये होंगे किन्तु कवि तो ऐसा हुआ ही कौन है?

(महाराज और अमात्य का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त—हाँ वासन्ती तुम ठीक कहती हो। सम्राट् तो मेरे जैसे कई हो गये, किन्तु कालिदास जैसा कोई कवि नहीं हुआ। (महाराज को आया जान सब चुपके से इधर उधर चली जाती हैं) क्यों राजामात्य?

राजामात्य—क्या निवेदन करूँ महाराज, दो मोदक दोनों ही अमृत मधुर हैं।

चन्द्रगुप्त—नहीं राजामात्य, वासन्ती, यथार्थ कह रही है। यह मेरा सौभाग्य है। अच्छा देखो आज हमारी सभा में कुछ असामान्य व्यक्ति ही आ सकेंगे, इसका ध्यान रखना कविवर आज यह ग्रन्थ सम्पूर्ण करके लाने वाले हैं। महाराज्ञी भी होंगी।

राजामात्य—यथार्थ है प्रभो! इसके अतिरिक्त एक निवेदन यह है कि तक्षशिला, स्वात, पंचनन्द, मगध, उदयगिरि में कुमार जन्म का उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया है।

चन्द्रगुप्त—ठीक है, राजा प्रजा की सम्पत्ति है। महामात्य, कच्छ और सिन्ध के विद्रोह की क्या अवस्था है।

राजामात्य—महाराज विष्णुदास के पुत्र सनकानिक वंशी को सिन्धु में शत्रु का दमन करने भेजा है। उनका सन्देश है कि प्रजा ने परम भट्टारक की प्रजा होना स्वीकार कर लिया है। स्वयं महाराज सनकानिक को प्रजा ने सहायता दी है। साँची के आम्रकार्दव नामक व्यक्ति ने कुमार जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में अनेक संघाराम बनवाये हैं।

चन्द्रगुप्त—बौद्ध और वैष्णव दो थोड़े ही हैं। राज्य में सब धर्म एक समान हैं। महाकवि के ग्रन्थ के भेंट के उपलक्ष्य में उज्जयिनी की चमू, चमूप, बलाधिकृत, महाबलाधिकृत, बलाध्यक्ष, महाबलाध्यक्ष, समस्तसेनाग्रेसर, रणभाण्डागाराधिकरण तथा महासेनापति को एक मास का वेतन अधिक दिया जाय। कृषकों का एक मास का कर क्षमा किया जाय।

राजामात्य—जो आज्ञा प्रभो !

चन्द्रगुप्त—सम्पूर्ण पारिषदों को कौशेय-पट्ट तथा एक-एक रत्नहार भी महामात्य ! (कुछ उदास हो जाते हैं)

राजामात्य—महाराज कुछ चिन्तित हैं क्या ?

चन्द्रगुप्त—हाँ मन्त्री, अभी प्रातः काल एक स्वप्न देखा है, तभी से व्यग्र हूँ !

राजामात्य—वराहमिहिर क्या कहते हैं ?

चन्द्रगुप्त—वे कहते हैं स्वप्न सत्य होगा।

राजामात्य—था क्या वह, महाराज का तो प्रताप ऐसा है कि दुःख स्वप्न रह ही नहीं सकते। क्या था वह ?

चन्द्रगुप्त—देखता हूं हमने उत्सव की आयोजना की है, उसी समय एक मुनि आये हैं।

राजामात्य—मुनि का दर्शन सुखकर है।

चन्द्रगुप्त—नारद हैं मानो। आते ही बोले—'कल्याण हो राजन् और देखो, उस समय उत्सव का भी सम्पूर्ण आयोजन हो।'

राजामात्य—वह तो उन्होंने उचित ही कहा। उत्सव का आयोजन अवश्य होगा महाराज!

चन्द्रगुप्त—हाँ मैंने कहा—महामुने! प्रणाम करता हूँ—मैंने पूछा—'कहाँ से पधारे?' वे बोले—'आज कैसा उत्सव है महाराज? मैं ऐसे ही घूमते चला आया। तुम्हारे राज्य में सब प्रजा प्रसन्न है, तुम धन्य हो राजन्।

मैंने कहा—मुनिवर! आपकी कृपा है। हाँ आज कुमार की उत्पत्ति का चालीसवाँ दिन है, आज महाकवि कालिदास, महारानी ध्रुवदेवी को, 'कुमार-सम्भव' भेंट करने वाले हैं, उसी का उत्सव है महामुने! आपने महाकाव्य सुना? वड़ा सुन्दर काव्य है मुनिश्रेष्ठ। जीवन में जो विजय मैंने प्राप्त की है, जो श्रेष्ठ कार्य किये हैं, वह कालिदास के एक श्लोक की बराबरी नहीं कर सकते। वे साक्षात् सरस्वती के अवतार हैं। अभी पन्द्रह दिन हुए वे कुछ अंश हमको सुना गये थे, आज वह समाप्त करने वाले हैं। इस पर मुनि बोले—

'यह काव्य तो स्वामिकार्तिकेय के जन्म से सम्बन्ध रखता है न?

मैंने उसके कुछ अंश सरस्वती से स्वयं सुने हैं। उस दिन वे भगवान् शंकर और पार्वती को सुना रही थी।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने कहा हाँ ऐसा, फिर उन्होंने क्या कहा? मुनि बोले—

क्या कहा होगा राजन् ! तुम क्या समझते हो,' इस पर मैंने कहा—भगवान्, शंकर तो अवश्य प्रसन्न होंगे। वह रचना ऐसी है और कालिदास स्वयं शंकर के उपासक हैं। मुनि एकदम उदास-से होकर कहने लगे—

'हूँ, रचना ऐसी ही है, हाँ अच्छी है।' मैंने इसके बाद आग्रह किया—कृपा करके बतलाइये क्या सम्मति है। इस पर मुनि मेरी बात का उत्तर न देकर बोले—

राजन् ! मैं सरस्वती को खोज रहा हूँ। इधर वे कई दिनों से मिली नहीं है। ब्रह्मा हमारे पिता उनसे मिलने के लिए चिन्तित हैं। स्वर्ग में वह कहीं नहीं मिल रही हैं। न जाने कहाँ चली गयीं, यहाँ भी नहीं हैं। कालिदास के आश्रम में भी नहीं हैं और कालिदास पिछले एक सप्ताह से ध्यान-मग्न हैं।'

इतना कहकर वे अन्तर्ध्यान हो गये।

इसके बाद निद्रा भंग हो गयी। संभ्रम संज्ञा प्राप्त करके मैंने सोचा यह मैंने क्या देखा ? यह कौन थे—नारद ? कालिदास एक सप्ताह से ध्यान-मग्न हैं। प्रतिहारी से ज्ञात हुआ, सचमुच वे ध्यान-मग्न हैं। (घूमते हुए लौटकर) मैं कालिदास को देखना चाहता हूँ।

राजामात्य—मैं संदेश भेजता हूँ पृथ्वीनाथ !

चन्द्रगुप्त—नहीं मैं जाऊँगा, और देखूँगा, इस स्वप्न का क्या प्रभाव कवि पर पड़ा। वस्तुतः राजामात्य लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन देना भी मेरे जीवन का लक्ष्य है। मैंने कविवर से कहा है कि वे कुछ नाटक भी लिखें !'......इस समय तक जो नाटक लिख गये हैं वे मुझे सन्तुष्ट न कर सके।

राजामात्य—भास के नाटकों में चरित्र-विकास सँवाद-सौन्दर्य होते हुए भी रस-परिपाक की त्रुटि है, ऐसा अनुभव किया है।

चन्द्रगुप्त—मैं चाहता हूँ कि कालिदास भी नाटक लिखें। निश्चय ही उनके नाटक महाकवि भास के नाटकों से श्रेष्ठ होंगे, ऐसा विश्वास है।

राजामात्य—उस दिन खेले जानेवाले उनके नाटक के निर्देशन को देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। एक तरह से 'स्वप्न-वासवदत्त' में जीवन आ गया।

चन्द्रगुप्त—माणिक्य सब जगह चमकता है। राजामात्य ! उनकी कविता में जितनी स्वाभाविकता है जितना रस-परिपाक है, जितना प्रभाव है, मुझे बहुत कम अन्यत्र मिला है राजामात्य।

राजामात्य—उनकी कविता को सुनकर ऐसा ज्ञात होता है मानो कोई अदृश्य शक्ति बोल रही है वे स्वयं पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो उठते हैं।

चन्द्रगुप्त—वे अपूर्व हैं।

(चले जाते हैं)

२

[कैलाश-शिखर के ऊपर देवदारु-निर्मित एक कुटीर। उसके बाहर तृणासन पर पार्वती बैठी हैं। सामने गणेश उनके घुटनों से लगे ऊँघ रहे हैं। कभी-कभी सूँड़ उठाकर इधर-उधर हिला देते हैं, कभी मुँह चलाते हैं। कुछ दूर पर सरस्वती बैठी हैं। सामने का हिमखण्ड रिक्त है। वह शिव का सिंहासन है ज्ञात होता है दोनों में कुछ गरमागरम विवाद हो चुका है बात बढ़ जाने पर गणेश की निद्रा भंग हो जाती है, वे

सिर उठाकर इधर-उधर देखने लगते हैं और कोई विघ्न न जानकर फिर ऊँघने लगते हैं। कभी-कभी वीरभद्र त्रिशूल लेकर इधर निकल आते हैं। पार्वती के सामने अपने अस्तित्व का भान कराकर चले जाते हैं। दूर पर बैठा सिंह कभी-कभी एक दहाड़ लगाता हुआ मुँह चलाकर शान्त हो जाता है। पार्वती मृग के चर्म का परिधान ओढ़े हैं जो कोरों से बँधा हुआ है। काले रंग के चर्म से उनकी मुख-शोभा द्विगुणित हो रही है सिर के बाल बिखरे हुए हैं। रत्नों की माला गले में। इससे सूर्य के प्रकाश में वह माला कभी-कभी इतनी चमक जाती है। कि पार्वती का मुंह महाप्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पड़ता।

सरस्वती रक्त-कौशेय की शाटिका पहिने आभूषणों से सुसज्जित। पार्वती का छौना सरस्वती को कमल का पुष्पगुच्छा जानकर उन्हें चबाने तथा चाटने दौड़ पड़ता है। पार्वती उसे हटा देती हैं। दूर भूत-प्रेतों की बातचीत की स्पष्ट ध्वनि सुनाई दे रही है।]

पार्वती—तुम्हीं सोचो जिसने मेरे सम्बन्ध में ऐसा वर्णन किया हो उसे मैं क्षमा कर सकती हूँ, चाहे वह स्वयं इन्द्र ही क्यों न हो ?

सरस्वती—किन्तु तुम्हें जगन्माता भी तो उसने माना है। मुझे दुःख है, तुम व्यर्थ ही नारद की बातों में आ गयी, उसका तो कार्य ही परस्पर झगड़ा कराना है नाँ !

पार्वती—इसमें नारद का कोई दोष नहीं है। यह तो स्पष्ट सत्य है। क्या उचित समझती हो कि किसी के सम्वन्ध में इतना शृंगार वर्णित किया जाय और वह अनुचित न माने।

सरस्वती—सुन्दर को सुन्दर कहने में दोष क्या है यही मैं नहीं जान सकी। स्त्री के यौवन की सार्थकता उसके रूप में, उसके सौन्दर्य

में उसके विलास में है। पुरुष के यौवन में वीरत्व है साहस है, कठिन से कठिन कार्य करने की क्षमता है, किन्तु स्त्री की चरम सार्थकता मातृत्व में है और मातृत्व से पहले यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति का यही रूप है जिसके लिए प्रत्येक ललना जन्म-जन्म से आकांक्षा करती है। वरदान माँगती है। इसके अतिरिक्त तुम्हारे विवाह के द्वारा स्कन्द की उत्पत्ति के लिए विश्व की जड़ चेतन, अमर-अजर सभी शक्तियों ने कितनी घोर प्रार्थना की है, यह भी तो किसी से छिपा नहीं है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि कालिदास की रचना आप्रलय अमर रहेगी। केवल एक बार तुम्हारे प्रसन्न होने की आवश्यकता है माँ।

पार्वती—मैं कालिदास को जानती हूँ। कई वार हम दोनों ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया है, और भगवान् तो उस पर इतने प्रसन्न हैं कि व्यास, वाल्मीकि के बाद उसे ही स्मरण करते हैं !

सरस्वती—यह भगवान् का महान् अनुग्रह है। उस दिन 'कुमारसम्भव' का प्रथम और दूसरा सर्ग जब मैंने सुनाया तो गद्‌गद् हो उठे और तुम भी कम प्रसन्न नहीं थी।

पार्वती—तुम्हें ज्ञात है, 'विधाता—तुम्हारे पिता कालिदास को उत्पन्न करने के लिए कितने विरुद्ध थे ?

सरस्वती—वे तो हुए वृद्ध उनसे कोई क्या कहे। उस कवि का होना विश्वकल्याण के लिए परम आवश्यक है।

पार्वती—नहीं, कहते थे व्यास और वाल्मीकि के बाद उस कोटि का कोई भी कवि पैदा नहीं किया जा सकता है।

सरस्वती—किन्तु व्यास और वाल्मीकि से हम उसकी समता ही कहाँ कर रहे हैं ? भगवान् वेदव्यास को तो मैं जानती हूँ वे तो साक्षात् विष्णु के अवतार हैं।

गणेश—(एकदम चेतन होकर) माँ व्यास जी आ गये क्या ? उनसे कह दो मैं सो रहा हूँ। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है। प्राण ही चूस लिए महानुभाव ने तो।

पार्वती—नहीं पुत्र उनकी बात चल पड़ी केवल।

गणेश—नहीं नहीं मुझसे अब यह काम न होगा। उनकी वाणी तो रुकना जानती ही नहीं। पवन के समान अव्याहत। काल के समान अणु-परमाणु तथा महत्ता से युक्त। आज भी जब स्मरण हो आता है तब मुझ विघ्नहर को भी एक विघ्न उपस्थित हो जाता है। तुम जानती हो जब मैं महाभारत लिखने बैठा तब मैंने क्या कहा था ?

सरस्वती—देखो भैय्या अब वह समय नहीं आयेगा। तुम भी तो जानते थे कि मेरे जैसा कोई लेखक नहीं अभिमान नहीं करना चाहिए।

गणेश—अभिमान की बात नहीं, जब महाभारत लिखने का प्रश्न आया तो मैंने सोचा कि व्यास जी को चमत्कार दिखाने को यह अच्छा अवसर है। इसलिए कह बैठा—देखिए व्यास जी यदि आप रुक गये तो मैं आगे नहीं लिखूंगा।

पार्वती—फिर भी जाने तू ने इतना कैसे लिख लिया। हाथ दुःख गये होंगे पुत्र (उनके हाथ सहलाती है) हाँ फिर क्या हुआ ?

सरस्वती—आगे का रहस्य मैं बतलाती हूँ। जब गणेश का आग्रह उन्होंने सुना तो चुप हो रहे और मेरी प्रार्थना करने लगे। एक बार मन में आया कि और कोई लेखक खोजें। व्यास को उस समय बड़ी ग्लानि हुई। जिनकी वाणी वेदों का विस्तार करते न रुकी, पुराणों का ऊपबृंहण करते न परास्त हुई वे इन गणेश के सामने धैर्य खो

बैठे। मै उस समय पिता के पास बैठी थी वे वाणी से चारों मुख से बोल उठे—अब ! महाभारत अवश्य लिख जाना चाहिए ! मैंने उत्तर—दिया—मैं जाती हूँ। आकर जो मैंने देखा तो व्यास चुप बैठे थे। मैंने कहा—मैं आपकी सहायता करूँगी। कूट बोलिये और गणेश से कहिए कि समझ कर लिखे। (हँसती हैं)

गणेश—कूट वह भी एक भयङ्कर काम था। मुझे एकदम सम्पूर्ण कोषों को छानना पड़ता था। कभी सूँड़ से माथा खुजलाता कभी उसे दबाता तब कहीं जाकर श्लोकों के अर्थ समझ में आते। किन्तु माँ ! व्यास सचमुच व्यास हैं यह मानना पड़ेगा। महाभारत में सहस्रों शब्द तो ऐसे हैं जिनको उन्होंने प्रकृति-प्रत्यय लगाकर तत्क्षण बनाया है। अच्छा तो यह आपकी करामात है अब समझा। यह बात उस समय ज्ञात होती तो मैं व्यास को वह चकमा देता कि तुम्हें भी जाकर ब्रह्मा से ही पूछना पड़ता।

सरस्वती—यह कहना न भैया, व्यास से छिपा ही क्या है—उस काले कलूटे से।

गणेश—फिर भी मैं तुमसे डरता हूँ जीजी ! अब न जाने क्या पचड़ा ले बैठी। मालूम है रात भर पिता और माँ में विवाद होता रहा है। भला नारदजी क्यों क्रुद्ध हैं। माँ तो केवल नारदजी के कहने से क्रुद्ध हैं।

पार्वती—तू क्या जाने कि मैं नारद के कहने से ही क्रुद्ध हूँ। प्रत्येक को अपनी मान-मर्यादा प्रिय होती है पुत्र !

सरस्वती—मुझे तो यह खेद है कि ऐसा सुन्दर काव्य अधूरा रह जायगा माँ।

पार्वती—और मुझे यह प्रसन्नता है कि मैंने कवि को उसकी धूर्तता का दण्ड दे दिया।

गणेश—यदि वे मेरा नाम लेते तो मैं कभी सुन्दर काव्य को अपूर्ण न रहने देता ?

सरस्वती—तो फिर तुम्हारा नाम दिलवा दूं ! मैं क्या करूं, पिता जी कहते हैं कि मैं वृद्ध हो गया संसार का निर्माण करते करते, कोई मेरा वर्णन ही नहीं करता। तुम कहते हो मेरा नाम नहीं हैं। याद रक्खो गणेश, भक्ति की पुस्तकों में साधारण कथाओं में पूजा-पाठ के ही तुम काम के हो, महान् शास्त्रों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध ?

गणेश—(हँसकर) अच्छा भला नारद क्यों क्रुद्ध हैं ?

पार्वती—नारद मेरा भक्त है। मेरा सौन्दर्य-वर्णन उससे नहीं देखा गया इसलिए।

गणेश—मिथ्या है।

(स्कन्द का प्रवेश। सरस्वती और माँ को प्रणाम करके)

स्कन्द—देखो माँ, नारद की यह वात मुझे अच्छी नहीं लगती।

पार्वती—क्या ?

स्कन्द—सुना है तुमने 'कुमार-सम्भव' को अपूर्ण रहने का शाप दिया है। मेरे ऊपर एक ही तो काव्य लिखा गया और वह भी अधूरा। मुझसे नारद कह रहे थे कि "चन्द्रगुप्त, के पुत्र का नाम कुमार रक्खा गया है।" एक तरह से तुम्हारी समानता की गई है यह बुरी वात है। क्या चन्द्रगुप्त का पुत्र स्कन्द के समान हो जायगा। इस तरह कह कर मुझे उभार रहे थे। किन्तु स्कन्द मेरा ही तो नाम नहीं है। जब मैंने क्रोध में जाकर कालिदास के पास रखी वह पुस्तक पढ़ी तो मेरा हृदय गद्गद हो गया। सुना है, तुम्हें वह शृङ्गार के नाम से वहका गये हैं।

पार्वती—तुम सब अपना-अपना स्वार्थ देखते हो स्कन्द इसलिए चाहता है कि उसके ऊपर एक काव्य-निर्माण हुआ। गणेश चाहता है कि यदि उसका नाम लिया जाता तो मेरे शाप के बाद भी ग्रन्थ पूर्ण हो जाता। सरस्वती इसलिए चाहती है कि यह हुई रसिक कला-साहित्य की स्रोत, इसे साहित्य की अपूर्णता रुचिकर नहीं है। भगवान् शंकर अपने भक्त का कार्य पूर्ण करने पर तुले हैं। अब भी वे कदाचित् वहीं हों।

(शंकर का प्रवेश)

शंकर—हाँ देवी आज एक सप्ताह से कालिदास चिन्तित हैं। आज ही वह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त को भेंट किया जायेगा। ध्रुवदेवी ने अपने पुत्र का नामकरण कुमार ही किया। मैंने कई बार यत्न किया, वह आगे लिखें किन्तु लेखनी रुक जाती है, छन्द ठीक नहीं बन पाते। वह रस भी नहीं है। मैंने स्वयं एक दो श्लोक लिखने का प्रयत्न किया तो रेखाएँ खिचकर रह गयीं। तुम उसे क्षमा करो देवि ! (सरस्वती की ओर देखकर) और सरस्वती तुम यहाँ क्या कर रही हो ?

सरस्वती—मां से अभिशाप लौटाने की प्रार्थना करने आयी थी किन्तु ये मानती ही नहीं।

(गणेश और स्कन्द सिटपिटाते से भाग जाते हैं)

पार्वती—आप गंगा को लिये भ्रमण करते रहें भक्तों को वरदान देते रहें। आपको क्या किसी का मान हो अथवा अपमान।

सरस्वती—मैं जाती हूँ। आज कवि के जीवन-मरण का प्रश्न है। दया कीजिए भगवान्।

शंकर—उज्जयिनी से आते हुए ध्यान आया कि विष्णु से मिलता चलूँ। कदाचित् कोई समस्या का समाधान मिल जाय। उन्होंने भी

वह काव्य पढ़ा है। आर [illegible] कि उसके अंश सुनकर लक्ष्मी को ईर्ष्या होने लगी कि उसका वर्णन कवि ने क्यों नहीं किया। विष्णु तो गद्गद हो उठे हैं। कह रहे थे वाल्मीकि के बाद ऐसा काव्य बना ही नहीं। विधाता को यह दुख है कि कालिदास का निर्माण ही क्यों किया गया? इसी से सम्पूर्ण स्वर्ग में गड़बड़ी मची है। बेटी सरस्वती, विधाता कह रहे थे कि उन्होंने तुम्हारे ही कहने से कालिदास का निर्माण किया है।

सरस्वती—सत्य है भगवान् मैं चाहती थी कि साहित्य-कला का प्रचार करने के लिए मनुष्यों में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न किया जाय जो लौकिक साहित्य को प्रोत्साहन दे सके।

पार्वती—मनुष्य सदा से देवताओं का विरोधी रहा है। उसने हमारे प्रति विद्रोह रचकर महत्व स्थापना करने का प्रयत्न किया है। वह देवताओं के नाम पर अपने राजाओं की स्तुति करता है। यह क्या अच्छी बात है क्यों नहीं ध्रुवदेवी का उसने वर्णन किया?

शंकर—संसार आश्रय चाहता है उसकी शक्तियाँ असीम हैं। मृत्यु, जीवन, यश, अपयश उसके हाथ में नहीं है, इसलिए वह डरता है और कालिदास तो मेरा परम भक्त है, तुम्हारा भी तुम अपना शाप लौटा लो देवि!

पार्वती—नाथ, यह मेरा मत है मेरा विश्वास है कि कालिदास ने उचित नहीं किया।

सरस्वती—माँ, आप आद्याशक्ति हैं, विश्वधात्री हैं, जगत्माता हैं। इस संसार का प्रणयन आपसे हुआ है। अतएव मानवोचित इन छोटी बातों में आपको नहीं आना चाहिए। आप तीन काल, त्रिप्रकृति हैं। फिर राजस से इतना भय क्यों? (जाने लगती है)

पार्वती—(मुस्कराकर) सरस्वती तू बड़ी चतुर है, अच्छा मैं सोचकर उत्तर दूँगी।

शंकर—मैं समाधिस्थ होने जा रहा हूँ, देवी !

पार्वती—नाथ, दया कीजिये, । ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी जो आप समाधिस्थ होने जा रहे हैं ? एक साधारण व्यक्ति के लिए इतना कष्ट ? कालिदास जैसे अनेक जीव संसार में हैं। उनके लिए भी तो··· (शंकर चले जाते हैं)

सरस्वती—(लौटकर) आओ मैं तुम्हें दिखाऊँ। (पार्वती सरस्वती खड़ी हो जाती हैं। दोनों दूर देखती हैं—दृश्य बदलता है। एक राजमार्ग) देखो, वह राजमार्ग है। इस समय तुम वर्तमान-भविष्यत् सब देख रही हो। (दोनों देखती हैं। मार्ग में कालिदास की मूर्ति है। छाया-चित्र की तरह महाराज चन्द्रगुप्त कालिदास का अभिवादन कर रहे हैं। लोग आते और प्रणाम कर जाते हैं।)

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—सम्राट् चन्द्रगुप्त (फिर कुमार गुप्त आते हैं। ये भी कालिदास को प्रणाम करते हैं।)

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—सम्राट् चन्द्रगुप्त।

(एक व्यक्ति आते हैं)

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

[जिस महाकवि की वाणी मधु के रस में डूबी थी उस कालिदास ने वैदर्भी रीति का मार्ग दिखाया है, प्रणाम करके चले जाते हैं।]

पार्वती—यह कौन हैं ?

सरस्वती—महान कवि दण्डी।

(एक व्यक्ति आते हैं कालिदास को प्रणाम करते हैं)

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।।

[कविवर कालिदास की आम्र-मंजरी के समान मीठी और सरल सूक्तियों को सुनकर किसके हृदय में आनन्द का उद्रेक नहीं होता।]

पार्वती—यह कौन हैं?

सरस्वती—जिनके वर्णन के सामने संसार का वर्णन उच्छिष्ठ है, वे महाकवि बाण।

(एक हैट, बूट, पतलून-धारी व्यक्ति आकर प्रणाम करके)

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यत्,
यश्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्,
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयोः,
ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्।

(ग्रीष्म और वसन्त के पुष्प और फल तथा मन को प्रसन्न करने वाले मोहक जितने रस हैं उनको तथा स्वर्गलोक एवं भूलोक के अभूतपूर्व ऐश्वर्य को हे मित्र, यदि तुम एकत्र देखना चाहते हो, कालिदास के नाटक शकुन्तला को पढ़ो।)

पार्वती—ये कौन हैं?

सरस्वती—जर्मनी के कवि गेटे। वह देखो—असंख्य नर-नारियों बालकों, वृद्ध के करों में कालिदास की पुस्तकें वे सब पढ़ते जा रहे हैं।

पार्वती—मैं समझती थी वह साधारण व्यक्ति होगा। यह तो सचमुच महान् है।

(एक व्यक्ति हाथ जोड़कर खड़ा है—)

मनोहारिणीं कुमार-सम्भवकथां गायता यावत्तौ,
स्तुयेतेस्म कवीश्वर! भवता गौरिगिरीशौ भगवन्तौ,
तस्थुः परितः प्रमथाः सर्वे शान्ततमाश्च ततो मन्दम्,
सायन्तन्यो नीरदमाला आचक्रमिरे गिरशिखरम्।

(हे कविवर कालिदास! जब तक मन को हरण करनेवाली कुमारसम्भव काव्य की कथा गाकर माता पार्वती और भगवान् शंकर की स्तुति करते रहे तब तक तुम्हारी वाणी के प्रभाव से शिव के सभी गण मनोमुग्ध होकर शान्त भाव से चारों ओर स्थिर हो गये और सन्ध्या समय की बहुरंगी मेघमालाओं ने कैलास पर्वत की चोटी को घेर लिया।)

पार्वती—ये कौन हैं ?

सरस्वती—महाकवि रवीन्द्र नाथ

(दूर से एक व्यक्ति गाता चला आता है—)

विश्वभारती कल्पलता के अमर सुमन मकरंद अमंद,
युग-युगान्त का तिमिर चीरकर हुए प्रकाशित जिनके छंद,
नग-अधिराज-शिखर गौरव से जिनके गाते गीत ललाम,
कविकुल-गुरु उन वश्यवाक् श्रीकालिदास को सतत प्रणाम।
अमर भारती वीणावादिनि, जिनको पा कृतकृत्य हुई,
कालत्रय की प्रकृति भाव ले शब्द-शब्द की भृत्य हुई,
अति तेजस्वी, अमर यशस्वी, अमर विधाता, अति अभिराम,
उस प्रकाश को उस विकास को; कालिदास को सततप्रणाम।

पार्वती—सुन्दर, कालिदास वस्तुतः महान् हैं। मुझे खेद है कि मैंने ऐसे व्यक्ति को शाप दिया। पार्वती (चिन्तामग्न खड़ी रहती हैं।)

सरस्वती—(स्वागत) कदाचित् कुछ काम बन जाय। कालिदास

मैं तुम्हारे लिए जो भी कर सकती थी। कर रही हूँ। यद्यपि मुझे तुम्हारे वर्णन में कोई आपत्ति नहीं है। (पार्वती से) क्या सोच रही हो माँ !

पार्वती—(हँसकर) सोचती हूँ कि एक बार शंकर से फिर विवाह होता।

सरस्वती—(हँसकर) एक बार फिर यौवन के दिन लौटते, क्यों ?

पार्वती—देवताओं के बूढ़े न होने पर भी इच्छाएं तो बुढ़ा जाती हैं सरस्वती !

सरस्वती—प्राणी की साधारण इच्छाएँ ही बूढ़ी होती हैं और देवताओं को तो कुछ भी अप्राप्त न होने से उनकी तो इच्छाएँ होती ही नहीं माँ। कालिदास के सम्बन्ध में फिर तुम्हारा क्या मत है ?

पार्वती—शाप नहीं लौट सकता। हाँ मैं आशीर्वाद देती हूँ वह काव्य अधूरा रहकर भी विश्व-साहित्य का उज्ज्वल रत्न होगा ! चलो ! कालिदास, तुम महान् हो।

सरस्वती—(सोचती हुई) चलो, यह मेरा काम है, तुम्हारा नहीं।

२

(कालिदास का निवास-प्रासाद में पहले दृश्य में दिखाये गये उद्यान के समान। जहाँ छहों ऋतुएँ निवास करती हैं। उद्यान में अनेक प्रकार के पुष्प, फलों से लदे वृक्ष पास ही वाटिका। उत्तर की ओर क्रीड़ापर्वत पूर्व की ओर बापी, अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से युक्त। क्रीड़ापर्वत के नीचे लताच्छादित वाटिका में महाकवि वर्तमान हैं। लता की यवनिका बनी हुई है, जो दूर से दिखायी देती है: उससे कुछ दूर हटकर स्वर्ण स्यन्दिका पर विलासवती मौन उदास बैठी है, कभी चिन्ताविक्य के कारण भ्रमण करने लगती है; कभी बैठ जाती है, परिचारिका मधुपात्र लिये खड़ी है।)

परिचारिका—(कुछ आगे बढ़कर) लीजिए, थोड़ा-सा मधुपान कर लीजिए, आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

विलासवती—नहीं, मदनिके ! ले जा मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। न जाने कविवर को क्या हो गया ? वे पिछले सप्ताह से बहुत ध्यानमग्न हैं।

परिचारिका—यह तो मैं देख रही हूँ, वैद्यवर धन्वन्तरि ने कोई उपचार नहीं बताया ?

विलासवती—सब कुछ कर चुकी, सब उपाय व्यर्थ गये। वे तन्मय हैं, बोलते भी नहीं। मैं जीवित न रह सकूँगी मदनिके ! यदि कवि को कुछ हो गया। और ऐसी कल्पना करते भी प्राण निकले जा रहे हैं !

प्रतिहारी—महाराज पधार रहे हैं, देवि !

विलासवती—महाराज (उठकर) कहाँ हैं ?

(परिचारिका मधुपात्र लता की ओट में रखकर खड़ी हो जाती है। महाराज धन्वन्तरि वैद्य के साथ आते हैं। विलासवती और परिचारिका दोनों नतमस्तक हो जाती हैं)

चन्द्रगुप्त—कहाँ हैं कवि ?

(विलासवती लताच्छादित वाटिका की ओर संकेत करती है।

चन्द्रगुप्त—मैं कवि का दर्शन करना चाहता हूँ।

विलासवती—देवाधिदेव, आज्ञा नहीं है, कवि व्यस्त हैं।

चन्द्रगुप्त—आज्ञा नहीं है किसकी आज्ञा नहीं है ?

विलासवती—क्षमा कीजिए देव, कवि किसी से मिलना नहीं चाहते।

चन्द्रगुप्त—किन्तु मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ।

(विलासवती चुप रहती है, चन्द्रगुप्त स्यन्दिका पर बैठ जाते हैं।)

चन्द्रगुप्त—तुम जानती हो, आज कविवर महासाम्राज्ञी को ग्रन्थ भेंट करनेवाले हैं।

विलासवती—जानती हूँ देव!

चन्द्रगुप्त—मैं जानना चाहता हूँ उस काव्य का क्या हुआ?

विलासवती—वह अपूर्ण है।

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्य से) अपूर्ण है।

विलासवती—जी, उसी के कारण वे आज एक सप्ताह से अस्वस्थ हैं।

धन्वन्तरि—महाराज, मैं निवेदन कर चुका हूँ कि कालिदास को कोई शारीरिक कष्ट नहीं है केवल कोई मानसिक चिन्ता है। उस के लिए मैंने कई प्रयोग किये किन्तु सब व्यर्थ हुए।

चन्द्रगुप्त—(सोचकर) अच्छा देखो, कवि किस दशा में हैं?

विलासवती—(प्रसन्नता से) महाराज वे लिख रहे हैं। मेरे पहुँचने की आहट उन्होंने नहीं सुनी।

चन्द्रगुप्त—दीखते तो स्वस्थ थे न!

(विलासवती जाती है और लौटकर)

विलासवती—मुख तो प्रसन्न दिखाई देता था। ओह, वे तो सचमुच इस समय पूर्वावस्था में दिखाई दिये। ज्ञात होता है काव्य लिखा जा रहा है। महाराज मैं पिछले एक सप्ताह से एक क्षण भी उनके पास से नहीं हटी हूँ। जब वे चिन्ता करने या लिखने की चेष्टा करते तो उनके मुख पर स्वेद-विन्दु उठते, तब मैं स्वयं उन्हें पोंछ देती

चन्द्रगुप्त—देवि ! तुम धन्य हो जिसने कवि को इतना अधीन किया है।

विलासवती—आह ! वह कितना सुख का समय होगा जब मैं उनके वीणा-विनिन्दत स्वर से आगे की कथा सुनूँगा। महाराज, यह न जाने मेरे पूर्व जन्म के कौन से सौभाग्य का फल है कि मेरे ऊपर कविवर ने अपने कृपा-कण बरसाये।

चन्द्रगुप्त—मैं स्वयं सोचकर गर्वोन्मत्त हो उठता हूँ कि कालिदास मेरे राज्य में हैं। यह मेरा और इस युग का सौभाग्य है।

(कालिदास कुमारसम्भव का एक श्लोक गुनगुनाते हैं।)

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं नचेदिदं त्वमनङ्ग कथमक्षता रतिः॥

[पति कामदेव के भस्म होने पर विलाप करती हुई रति कहती है—'तुम तो कहा करते थे—तू मेरे हृदय में सदा बसती है परन्तु अब मुझे ज्ञात हुआ कि ये बनावटी बातें थीं। यह केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए कहते थे नहीं तो आपके नष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षत रहती?']

धन्वन्तरि—प्रवाह चल पड़ा है। महाराज, कवि का स्वास्थ्य उनकी कविता है। यह भी एक प्रकार का ज्वर है, जब तक उद्गार के रूप में निकल नहीं जाता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती।

चन्द्रगुप्त—तुम ठीक कहते हो धन्वन्तरि, कविता निर्झरिणी के समान है, जो बहने के पश्चात् ही शान्त होती है। विलासवती मैं कवि से मिलूँगा।

धन्वन्तरि—महाराज अपराध क्षमा हो। यह अवसर उनके पास जाने का नहीं है। वे कविता प्रणयन में मग्न हैं।

चन्द्रगुप्त—(उदास होकर) अच्छा देवि, कवि का विशेष ध्यान रखना।

(दोनों चले जाते हैं)

विलासवती—(एक फूल तोड़कर सूंघती हुई) मेरे जीवन के प्रिय सहचर, मेरे हृदय के आनन्द, तुम्हारी सरस्वती इसी तरह मधु बरसाती रहे, यही आकांक्षा है (कुमार सम्भव का एक श्लोक गुनगुनाती है इतने में एक मृग-छौना आकर विलासवती का वस्त्र पकड़ लेता है, विलासवती देखकर आनन्द में मग्न होकर उसे उठा लेती है।) आतुर तुम सचमुच बहुत आतुर हो (प्यार करके छोड़ देती है, मृग हटकर खड़ा हो जाता है।)

मदनिका—आज प्रातःकाल से यह मृग-छौना बार-बार लतामण्डप में कवि के पास जाता है और निराश-सा लौट जाता है देवि !

विलासवती—ज्ञात होता है, ध्यान-मग्न होने के कारण कवि से इसे प्यार नहीं मिला। मैं स्वयं बहुत विह्वल हो जाती हूं कभी-कभी मदनिके ! जीवन में मैंने एक ही व्यक्ति को हृदय दिया है, एक ही को प्राणदान किया है, और वे हैं कालिदास। देख तो सही वे क्या कर रहे है ? (इतने में कौशेय पट धारण किये भव्यमूर्ति कालिदास गुनगुनाते हैं) ओ, (प्रसन्नता दिखाती हुई) क्या आप लिख चुके ?

कालिदास—(जिनकी आँखों में मद का उतार झलक रहा है फिर भी मोहक) तुम्हारे बिना मैं कुछ लिख सकता हूँ क्या ? (कुछ देर ठहर कर) ज्ञात होता है, भगवती पार्वती ने मुझे उनके शृङ्गार वर्णन के अपराध में शाप दिया है। इसी कारण मैं यत्न करके भी कुछ नहीं लिख पा रहा हूँ। कुमार-सम्भव पूर्ण न होगा, इसका मुझे खेद है। शृंगार किसी प्रकार भी गर्ह्य हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

विलासवती—हम लोग सभ्य हैं न ? न सब प्रत्यक्ष, अनुमानगम्य होते हुए भी एक सीमा तक ही तो हमें जाना होगा। किन्तु पार्वती के शृंगार वर्णन में मुझे तो कोई भी हेय अंश दिखायी नहीं देता। वह तो इतना मनोहर है कि पढ़कर रोमांच होता है। कवि, तुम्हारी वाणी में कितना रस है ?

कालिदास—स्फूर्ति तो तुम्हीं हो विलासवती, (श्लोक गाते हैं, विलासवती उनके बालों में हाथ फेरती है मदनिका पंखा झलती है।) मनुष्य और प्रकृति दोनों में संघर्ष चल रहा है कि कौन अधिक सुन्दर है। मेघ, बिजली, पूर्णनिशा, नदी, भ्रमर, कुसुम—एक से एक सुन्दर एक से एक अधिक मोहक हैं मानों सम्पूर्ण विश्व का रज; आनन्द एक-एक में आकर एकत्र हो गया है कि……

विलासवती—किन्तु……

कालिदास—मनुष्य इससे भी सुन्दर। वही तो उस सौन्दर्य का परिज्ञाता है यदि मनुष्य न होता तो कैसा लगता प्रिये ?

विलासवती—जैसे तुम्हारे बिना मैं। (हँसती है)

कालिदास—और तुम्हारे बिना मैं कैसा होता जानती हो ?

विलासवती—जानती हूँ।

कालिदास—बताओ (उठ बैठते हैं आँखों में आँख डालकर) बोले प्रिये !

(हँसती हुई टहलने लगती है)

कालिदास—तुमने ठीक संकेत किया। न मैं कवि होता न कुछ, भेड़ चराता। यही न ?

विलासवती—(पास जाकर) नहीं, यह मेरा आशय नहीं प्राणाधार !

कालिदास—यह विश्व चमक रहित स्वर्णखण्ड होता, जो खान से निकलता है। व्यर्थ सब व्यर्थ।

विलासवती—(पास जाकर) आप न जाने कैसे इतना सुन्दर लिख जाते हैं, केवल यह बात मैं यत्न करके भी नहीं जान पायी।

कालिदास—इसमें जानने की क्या बात है। यह भी एक वेग है। मस्तिष्क-हृदय से मिला हुआ प्राणों का वेग जिसमें रस की अतिमात्रा है। जैसे तुम्हें देखकर हृदय में एक प्रकार की पुलक, एक प्रकार की प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य देखकर मन में एक प्रकार का आह्लाद होता है। उस आह्लाद को, उस सौन्दर्य को बँधे शब्दों में उतार देने का नाम 'कविता' है। जो कवि जितनी सूक्ष्म भावना को तन्मयता के साथ, आत्मा में व्याप्त रस को पचाकर शब्दों के चित्रों द्वारा, कल्पना की कूचिका से मानव के हृदय-पटल पर प्रत्येक भाव चेष्टा से युक्त खींच सकता है वह उतना ही महान् कवि है।

विलासवती—ठीक है। अभी आप प्रकृति और पुरुष से संघर्ष की बात कर रहे थे न ?

कालिदास—हाँ, वस्तुतः पुरुष के भीतर जो सौन्दर्य की एवं ग्राह्य-अग्राह्य की भावना आयी है, वह प्रकृति के कारण ही तो। पुरुष प्रकृति से ही पल्लवित हुआ है, उसके ज्ञान का प्रसार प्रकृति है। इसीलिए लौकिक जीवन में प्रकृति मुख्य है।

विलासवती—आपने एक जगह कहा है—मरण प्रकृति है और जीवन विकृति है। यह क्या है ?

कालिदास—यह दूसरी बात है, वहाँ प्रकृति का अर्थ वास्तविकता है। मृत्यु का मूलरूप लय है और जीवन लय का विकार, जैसे कुसुम बीज की प्रकृति है। महाराज चाहते हैं कि प्रभावती के विवाह के लिए एक नाटक लिखा जाय। मैं सोचता हूँ वह कैसा नाटक हो।

विलासवती—आनन्द से विभोर कर देनेवाला। और कैसा? जिसमें झरने की तरह अजस्र गति से आनन्द वह निकले।

(कालिदास एकदम किसी बात का ध्यान आते ही चुप हो जाते हैं। विलासवती उनको उस रूप में देखकर बोलना बन्द कर देती है। कवि लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। लिखते रहते हैं। विलासवती पंखा करती है और उनको देखती है।)

४

[महाराज चन्द्रगुप्त का प्रासाद। उस दिन विशेष रूप से सुसज्जित। रात्रि का समय। मखमली कालीनों और स्थूलोपधानों से युक्त। प्रत्येक व्यक्ति के आसन बने हुए हैं। बीच में महाराज का पादपीठ, उसके वामभाग में महारानी ध्रुवदेवी का आसन। तदनुसार कुबेरनागा उनकी दूसरी पत्नी का स्थान। दायीं ओर कालिदास तथा अन्य लोगों के बैठने की जगह। प्रासाद में मणिचषकों में दीप जल रहे हैं। कुछ में अगर गन्ध कस्तूरी की बत्तियाँ जल रही हैं। विलासवती आती है। उसके बाद राजामात्य तथा अन्य कवि। कन्या प्रभावती कुबेरनागा के साथ, फिर ध्रुवदेवी जयघोष के साथ पधारती हैं। ध्रुवदेवी तथा कुबेरनागा के हाथ में नीलकमल, केशपाश में बाल-कुन्द मुख पर लोध्र-पुष्प का चूर्ण, जूड़ों में कुरवक-पुष्प कानों में शिरीष लगे हुए हैं। एक परिचारिका कुमारगुप्त को लिये उनके पीछे आती है। परिचारिकाएँ व्यजन करती हुई पीछे चलती हैं। धीरे-धीरे सब लोग आकर बैठ जाते हैं, केवल महाराज और कालिदास का स्थान रिक्त है।]

राजामात्य—कविवर नहीं आये, क्या कारण है ! महाराज आना ही चाहते हैं।

धन्वन्तरि—कवि आज सर्वथा स्वस्थ हैं, अब तक आ तो जाना चाहिए !

विलासवती—वे आ रहे होंगे, महामन्त्रिन् !

[जयघोष के साथ महाराज आते हैं। सब खड़े हो जाते हैं। चन्द्रगुप्त बैठते हैं।]

चन्द्रगुप्त—कालिदास नहीं आये ?

राजामात्य—महाप्रभु, आ रहे हैं। (इसी समय कालिदास आते हैं)

चन्द्रगुप्त—कविवर ! ग्रन्थ तो समाप्त हो गया न !

कालिदास—[उदास होकर] आगे की कथा नहीं लिख सकता, देव !

चन्द्रगुप्त— क्यों ?

कालिदास—सम्भव नहीं है, लेखनी मूक हो गई है, यत्न करके भी नहीं लिख पाया।

चन्द्रगुप्त—कारण ?

कालिदास—कारण मैं स्वयं नहीं जानता। लिखने बैठता हूँ तो लेखनी रुक जाती है।

ध्रुवदेवी—यत्न करो कविवर ! मेरे पुत्र को दिया जानेवाला ग्रन्थ पूर्ण होना चाहिए।

कालिदास—इस ग्रन्थ की अपूर्णता ही पूर्णता है। विश्वास कीजिए, कुमार-सम्भव इससे आगे नहीं लिखा जा सकता।

चन्द्रगुप्त—आश्चर्य है इतना सुन्दर काव्य और पूर्ण न हुआ !

ध्रुवदेवी—कविवर ! आप कवि हैं। कवि भूत, भविष्यत् वर्तमान का द्रष्टा होता है। क्या कारण है जो आप इसे पूर्ण नहीं कर सके ?

चन्द्रगुप्त—विश्वास नहीं होता जो आप चाहें वह न हो ! आपके

संकेत पर राज्जों में परिवर्तन, प्रजा में नया विश्वास उत्पन्न किया जा सकता है ?

ध्रुवदेवी—तो क्या कारण है ?

कालिदास—कारण, कारण कवि स्वयं नहीं जानता ।

ध्रुवदेवी—मेरी प्रार्थना है काव्य पूरा कीजिए । अपूर्ण काव्य मेरे कुमार का अपमान है ।

कालिदास—मानापमान मैं कुछ नहीं जानता । कविता प्रेरणा है, न जाने क्यों मेरी प्रेरणा कुण्ठित हो गयी है । मुझे ज्ञात हो गया, इस काव्य का आगे लिखा जाना असम्भव है ।

ध्रुवदेवी—तो मानना होगा आपका कवित्व समाप्त हो गया ?

चन्द्रगुप्त—नहीं ऐसा मत कहो । रघुवंश लिखा जा रहा है । उसकी गति में कोई व्यवधान नहीं है ।

कालिदास—हाँ, रघुवंश लिखने की प्रेरणा बराबर बढ़ रही है । जब-जब कुमार-सम्भव लिखने बैठा तभी रघुवंश के छन्द, कथा लिख जाता रहा हूँ । लीजिए यह आपकी भेंट है ।

ध्रुवदेवी—अपूर्ण ग्रन्थ मैं स्वीकार नहीं कर सकती । [अचानक बालक रोने लगता है ।] मैंने बड़े आग्रह के साथ आपसे प्रार्थना की थी, किन्तु आपने उसे ठुकरा दिया कविवर !

कालिदास—(दृढ़ता से) देवी ! मैं विवश हूँ । कवि की भाषा इस काव्य के सम्बन्ध में मूक हो गयी । [कालिदास का स्वर दृढ़, नेत्रों से ज्योति स्फुलिंग निकलते हैं कभी वे नेत्र बन्द कर लेते हैं ।]

ध्रुवदेवी—तो रहने दीजिए, मुझे यह स्वीकार नहीं है कविवर !

(इतना कहते ही बालक वेग से रोने लगता है । ध्रुवदेवी की परिचारिका के चुप कराने तथा पुचकारने पर भी बालक गला फाड़-फाड़कर

रोता ही रहता है। ध्रुवदेवी परिचारिका के साथ बालक को लेकर चली जाती है, बालक के रोने की आवाज आती रहती है। ध्रुवदेवी फिर लौट आती हैं।)

वराहमिहिर—देवी, हमको कवि का ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा, इसी में बालक का कल्याण है।

ध्रुवदेवी—(चुप)

कुबेरनागा—महारानी ! सरस्वती का, कवि का अपमान मत कीजिए। (बालक के रोने की ध्वनि) परिचारिका ?

परिचारिका—देवी, विधाता की इच्छा है कि ग्रन्थ को अस्वीकार न किया जाय। (कालिदास जाने लगते हैं) ठहरिए कविवर ! इसमें आपका दोष नहीं है। महारानी ! बालक असंज्ञ हो रहा है। (ध्रुवदेवी चली जाती हैं।)

वराहमिहिर—महाराज ! (पास जाकर) यदि यह ग्रन्थ कुमार को भेंट न किया गया तो अनर्थ हो जायगा। कवि का नहीं, भगवती सरस्वती का अपमान है।

राजामात्य—महाराज जो आपने स्वप्न देखा था, वह उसी का प्रभाव है। नारद स्वयं कह गये थे कि काव्य के पूर्ण होने की सम्भावना कम है।

वराहमिहिर—यदि सरस्वती रूठ जातीं तो रघुवंश भी अपूर्ण रहना चाहिए। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। कालिदास झूठ नहीं कहते ! महाराज इसी में साम्राज्य का कल्याण है कि ग्रन्थ कुमार को भेंट किया जाय।

चन्द्रगुप्त—वराहमिहिर, मैं क्या करूँ ? महारानी ही नहीं चाहतीं।

वराहमिहिर—महारानी को चाहना होगा। बालक उस समय तक रोना बन्द नहीं करेगा जब तक ग्रन्थ उसे भेंट नहीं किया जायगा। (रोने की ध्वनि आती है)

चन्द्रगुप्त—बड़ा आश्चर्य है वराहमिहिर !

राजामात्य—बड़ा आश्चर्य है महाप्रभु ? (कालिदास जाने लगते हैं।)

चन्द्रगुप्त—ठहरिए कविवर ! (बालक को लिये ध्रुवदेवी आती हैं।)

ध्रुवदेवी—महाराज, न जाने कुमार को क्या हो गया !

चन्द्रगुप्त—देवी ! हमको यह ग्रन्थ स्वीकार करना ही होगा, इसी में बालक का कल्याण है।

(ध्रुवदेवी चुप रहती हैं)

कुबेरनागा—महारानी इस तरह कवि का अपमान मत कीजिए, चलिए।

ध्रुवदेवी—(पास जाकर) कविवर, मैं आपका ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार करती हूँ।

चन्द्रगुप्त—यही उचित है देवी।

(ग्रन्थ लेकर आगे बढ़ते ही बालक चुप हो जाता है। कवि बालक को ग्रन्थ स्पर्श कराकर ध्रुवदेवी को भेंट करते हैं; आकाश में मेघ गरजने लगते हैं, बिजली कड़कती हैं। कालिदास ग्रन्थ भेंट करते हुए नेत्र बन्द करके कहते हैं—)

अनाप्तमवाप्तव्यं न च किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥

[प्रभो !. संसार में तुम्हारे लिए कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त करने को

शेष नहीं है जिसके कारण तुम्हें संसार में आना पड़ा हो किन्तु तुम तो एकमात्र लोक-कल्याण के लिए ही जन्म लेते और कर्म करते हो।]

[ध्रुवदेवी बालक को गोद में लेकर ग्रन्थ स्वीकार करती हैं। चन्द्रगुप्त सिर झुकाये खड़े हो जाते हैं। जयघोष होता है— कविवर कालिदास की जय !]

●

शब्दार्थ

प्रासाद—राजभवन । ताल—ताड़ का पेड़ । तमाल—एक सदा-बहार वृक्ष । हिंताल—जंगली खजूर । स्फटिक—सफेद संगमरमर पत्थर । प्रतोली—बीच का रास्ता गली, सड़क । राजपरिचारिकायें—अन्तःपुर की सेविकायें, दासियाँ । कौशेय वस्त्र—रेशमी कपड़ा । वेणी—बालों की गूँथी हुई चोटी । कंचुकी—चोली, अंगिया । पटल—कमर के नीचे पहिना जानेवाला पहिनावा विशेष । अङ्गद—बाँह पर पहिना जानेवाला आभूषण । वलय—कलाई में पहना जानेवाला कंकण । मणिबंध—कंकण की भाँति दूसरा आभूषण । ग्रैवेयक—हार । पादत्राण—जूती । मुद्राएँ—अँगूठियाँ । शाटक—वस्त्र विशेष । शाटिका—साड़ी । समवेत—मिले हुए, सम्मिलित । दुर्वह—सँभाला न जाना । द्राक्षावल्लरी—अंगूर की लता । पदाभिव्यक्ति—शब्दों में अर्थों के तत्काल व्यंजित होने की शक्ति । उदयगिरि—महानदी के पास का प्रदेश । परमभट्टारक—महान् प्रतापी और आदरणीय । संघाराम—बौद्ध भिक्षुओं के रहने का भवन, विहार । चमूप—सेना का छोटा अधिकारी । बलाधिकृत, बलाध्यक्ष, समस्त सेनाग्रेसर—

सेना के उच्च अधिकारियों के पद। रणभाण्डागाराधिकरण—सेना-सम्बन्धी सभी सामग्रियों का प्रबन्धक। पारिषदों—सभासद या दरबारी। संभ्रम—उतावली में। रसपरिपाक—भाव आदि के साथ रस की पूर्ण व्यंजना। अदृश्य-शक्ति—दैवी शक्ति। परिधान—जो ओढ़ने या पहनने योग्य हो। कोरों से—किनारे के कोनों से। रक्तकौशेय—लाल रेशमी वस्त्र। अव्याहत—बेरोक-टोक। चकमा—भुलावा। आद्याशक्ति—विश्वधात्री, विश्व का पालन करनेवाली, सृष्टि की आदि प्रेरक शक्ति। वैदर्भी-रीति—वह वाक्य-रचना जिसमें माधुर्य व्यंजक वर्ण हों, और समासवाले पद बहुत कम हों, जिसमें अर्थ शीघ्र स्पष्ट होता चले। उच्छिष्ठ—जूठा। वश्यवाक्—वाणी जिसके वश में हो। क्रीड़ापर्वत—राजाओं के बगीचे में आमोद-प्रमोद के लिए तैयार किया हुआ कृत्रिम पहाड़। जवनिका—पर्दा। स्वर्ण-स्यन्दिका—सोने की बनी चौकी। मधुपात्र—शराब का प्याला। वीणाविनिन्दित—वीणा को भी मात करनेवाला, तिरस्कार करनेवाला। गर्ह्य—निंदनीय। कूर्चिका—चित्र बनाने और रँगवाने की कूंची। भूधर—पहाड़। प्रसार—विस्तृत होने का क्षेत्र। अजस्र—लगातार। स्थूलोपधान—मोटी तकिया, मसनद। मणिचषक—मणि-जटित प्याला। बालकुन्द—कून्दफूल की कली। लोध्रपुष्प—लाल रंग का फूल। कुरबकपुष्प—कटसरैया का फूल। शिरीष—एक बहुत ही कोमल फूल। व्यजन—पंखा। व्यवधान—रुकावट, विघ्न। असंज्ञ—चेतनाहीन, मूर्च्छित। लोकानुग्रह—लोक का कल्याण, संसार की भलाई।

मान-मन्दिर

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

पात्र

महाराणा लाखा	...	चित्तौड़ के महाराजा
राव हेमू	...	बूंदी के महाराज
वीरसिंह	...	मेवाड़वासी एक हाड़ा सेनाध्यक्ष
अभयसिंह	...	मेवाड़ सेनापति
चारणी		राजपूत-वीरों के यश गानेवाली गायिका

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

जन्म—संवत् १९६५ मालवा (मध्य प्रदेश)

निधनकाल : संवत् २०३० विक्रम

'प्रेमी' राष्ट्रीय चेतना के कलाकार हैं। नाटककार के रूप में इन्हें जितनी जल्दी ख्याति मिली उतनी कम लोगों को मिलती है। ये एक सफल कवि और सिद्धहस्त नाटककार थे।

'प्रेमी' जी का साहित्यिक जीवन संवत् १९८४ से प्रारम्भ होता है। इनके नाटक विषय की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक। इनके ऐतिहासिक नाटकों की संख्या अधिक है। अपने नाटकों में विषय-चयन के लिए इन्होंने भारतीय इतिहास का मुस्लिम काल लिया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की अभिव्यक्ति इनके उन नाटकों में पायी जाती है।

'प्रेमी' जी की नाटक-शैली पाश्चात्य शैली से प्रभावित होने पर भी भारतीय है। इनके पात्रों के कथोपकथन बहुत ही नाटकोपयुक्त हैं। बीच-बीच में गीतों का भी प्रयोग हुआ है। मुहावरों के प्रयोग के साथ भाषा तत्सम शब्दों तथा फारसी उर्दू के शब्दों से मिली हुई दोनों प्रकार की है।

इनकी नाटक-कृतियाँ ये हैं—

नाटक—पातालविजय, शपथ, रक्षाबन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्नभंग, मित्र-उद्धार, विषपान, प्रथम जौहर, बन्धन, छाया, प्रकाश-स्तम्भ, आन का मान, अमर बलिदान, रक्तरेखा।

गीतनाटिका—स्वर्णविहान।

एकांकी संग्रह—मन्दिर, बादलों के पार, भारतीय शौर्य देशाभिमान, स्वातंत्र्य प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम-एकता।

णा के प्रति अपनी श्रद्धा

ही नहीं मेवाड़ की

मान-मन्दिर

पहला दृश्य

(स्थान—बूंदी-गढ़। बूंदी के राव हेमू अपने कमरे में मेवाड़ के सेनापति अभयसिंह से बातचीत कर रहे हैं।)

अभयसिंह—राव साहब ! सिसोदिया वंश हाड़ाओं को आदर और स्नेह की दृष्टि से देखता है।

राव हेमू—तो फिर आप बूंदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा लेकर क्यों आये हैं ?

अभयसिंह—राव साहब, राजपूतों की छिन्न-भिन्न असंगठित शक्ति विदेशियों से किस प्रकार सामना कर सकती है ? आप तो जानते ही हैं कि जब तक पश्चिम से आनेवाले आक्रमणकारियों को भारत के सभी राजाओं की सम्मिलित और संगठित शक्ति का सामना करना पड़ा तब तक इस देश का मान नहीं घटा, लेकिन जैसे ही पृथ्वीराज और जयचन्द्र ने देश की शक्ति को तीन-तेरह कर दिया वैसे ही इस गौरवशाली देश का गौरव अस्त हो गया। राव साहब, इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपनी शक्ति एक केन्द्र के अधीन रखें।

राव हेमू—और वह केन्द्र है चित्तौड़ ?

अभयसिंह—इसमें भी कोई संदेह है राव साहब ! यद्यपि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को विध्वंस कर दिया था, किन्तु यह विध्वंस भी

...रानी पद्मिनी का जौहर-व्रत और मेवाड़ियों
...दान क्या भुलाया जा सकता है ? वह वंश
जन्म-...के रक्त सिंची भूमि से वंचित रहता। उसमें
...से प्रतापी वीर पैदा हुए। चित्तौड़ का गत गौरव
...र लौटा है, जो राजवंश पहले मेवाड़ के अनुगत थे, महाराणा
लाखा चाहते हैं आज भी उसी तरह रहें। बीच की अव्यवस्था से
लाभ उठा कर जो राजा और जागीरदार मेवाड़ी झण्डे के नीचे से
हट गये हैं, उन्हें उसी के नीचे आना चाहिए। बूंदी राज्य भी सदा
से मेवाड़ के आश्रित.........

राव हेमू—बूंदी राज्य सदा से मेवाड़ के आश्रित ! यह तुम क्या
कहते हो अभयसिंह जी ! स्वर्गीय महाराज पृथ्वीराज से वंशजों को
गहलौत राजपूत अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। अभयसिंह जी किस
महाराणा ने हमारे पूर्वजों को बूंदी का पट्टा दिया था ?

अभयसिंह—पट्टा तो शायद नहीं दिया, लेकिन आप बता सकते
हैं कि उन्होंने कैसे इस पठार पर अपना अधिकार जमाया है।

राव हेमू—हमारे कुल-गौरव स्वर्गीय देवसिंह की तीखी तलवार
ने इस पर्वतमाला पर बसनेवाले मीनों और भीलों को अपने काबू में
करके उनसे इस देश को छीना है। मेवाड़ के सेनापति ! मेवाड़ के
पट्टे ने नहीं, प्रलयंकर शंकर के अवतार देवसिंह हाड़ा के पुरुषार्थ ने
हाड़ावंश को इस भूमि का स्वामी बनाया है। हाड़ावंश किसी की
गुलामी स्वीकार नहीं करेगा। चाहे वह विदेशी शक्ति हो, चाहे वह
मेवाड़ का महाराणा हो।

अभयसिंह—किन्तु, क्या आज तक हाड़ाराव, दशहरे और

होली के उत्सवों में चित्तौड़ जाकर महाराणा के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति के फूल नहीं चढ़ाते रहे ?

राव हेमू—केवल श्रद्धा और भक्ति के फूल ही नहीं मेवाड़ की मान-रक्षा में अपने लोहू का अर्घ्य भी चढ़ाते रहे हैं, प्राणों की बलि भी देते रहे हैं।

अभयसिंह—तो आज आपको महाराणा की अधीनता स्वीकार करने में आपत्ति ही क्या है ?

राव हेमू—वह था एक वीर राजपूत का दूसरे राजपूत के प्रति स्नेह का आदान-प्रदान। मेवाड़ के सीसोदिया वंश के प्रति बूंदी के चौहानवंशीय हाड़ाओं का प्रेम-भाव अस्वाभाविक नहीं है। पृथ्वीराज के भी पहले से सीसोदिया और चौहान, देश और जाति की मान रक्षा में रक्त का संगम करते रहे हैं। दो वंशों की रक्त-धाराओं के संगम ने नीच-ऊँच की भावनाओं को नष्ट कर दिया था। आज महाराणा न जाने किसके बहकाने में आकर एक बेसुरी तान अलापने लगे हैं ! सेनापति, आप समझदार हैं, महाराणा को समझाइए।

अभयसिंह—समझाऊँ तो तब जब स्वयं समझूं ! मैं तो यह जानता हूँ कि राजपूतों को एक सूत्र में गूथ जाने की बड़ी आवश्यकता है और जो व्यक्ति यह माला तैयार करने की ताकत रखता है, वह है महाराणा लाखा।

राव हेमू—ताकत की बात न छेड़ो, अभयसिंह ! प्रत्येक राजपूत को अपनी ताकत पर नाज है। इतने बड़े दम्भ को मेवाड़ अपने प्राणों में आश्रय न दे, इसी में उसका कल्याण है। रह गयी बात एक माला में गूँथने की, सो वह माला तो बनी हुई है, वह मेवाड़ का दृष्टि-दोष है कि वह उसे देख नहीं पा रहा है। हाँ, उस माला को तोड़ने का श्रीगणेश अब हो गया है।

अभयसिंह—तो मेरा यहाँ तक आना व्यर्थ हुआ ! आप महाराणा लाखा की आज्ञा को···

राव हेमू—आज्ञा । हाड़ा आज्ञा के नाम से चिढ़ता है ।

अभयसिंह—किन्तु अनुशासन का अभाव हमारे देश के टुकड़े किये हुए हैं ।

राव हेमू—प्रेम का अनुशासन मानने को हाड़ा वंश सदा तैयार है, शक्ति का नहीं । मेवाड़ के महाराणा की यदि अपने ही जातिभाइयों पर अपनी तलवार आजमाने की इच्छा हुई है तो उसमें उन्हें कोई नहीं रोक सकता । बूंदी स्वतन्त्र राज्य है और स्वतन्त्र रहकर वह महाराणाओं का आदर करता रह सकता है । अधीन होकर किसी की सेवा करना वह पसन्द नहीं करता ।

(नेपथ्य में गान)

कभी न अपनी आन गँवाना !

तुम हो अग्नि-पुत्र अभिमानी,
हृदय तुम्हारा है तूफानी,
तुमने भय से हार न मानी,
कभी न जाना शीश झुकाना !
कभी न अपनी आन गँवाना !

पाली है प्राणों में ज्वाला,
राजपूत रण-मद-मतवाला,
कब बन्धन में बँधने वाला ।
चाहे अपनी जान गँवाना ।
कभी न अपनी आन गँवाना ।

गौरव-हीन न जीवन जीना,
चाहे पड़े गरल भी पीना
चाहे चलनी होवे सीना,
पर न दासता को अपनाना।
कभी न अपनी आन गँवाना।

राव हेमू—सुनते हो अभयसिंह। कोई क्या गा रहा है। यह है राजपूत के जीवन का मन्त्र! आज मेवाड़ियों को यह बात नये सिरे से समझनी न होगी। आप महाराणा को समझायें कि जिस धातु से मेवाड़ियों की तलवार बनी है उसी से बूँदी के हाड़ाओं की भी।

अभयसिंह—यह देश का दुर्भाग्य है...

(गाते गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—रुक क्यों गये मेवाड़ के सेनापति। क्या कहते हैं मैं भी तो सुनूँ।

अभयसिंह—ये राजनीतिक बातें हैं चारणी। तुम अपना गीत गाये जाओ, राजपूतों के हृदय में आग लगायें जाओ, इस राजनीति के चक्कर तुम्हारी सीमा के बाहर है।

चारणी—राजनीति। हः हः हः! यह हमारी सीमा के बाहर है? यह केवल राजाओं की है? वह दिन आयेगा सेनापति, जब राजनीति का उदय साधारण जनता में से होगा। मैंने सुना था मेवाड़ के सेनापति यहाँ आये हैं, इसलिए दर्शन करने चली आयी थी और यह जानने को इस समय जब कि देश का वातावरण शान्त है दो राज्य-शक्तियों में क्या अभिसन्धि हो रही है।

राव हेमू—कुछ नहीं देवि, बड़े मगर छोटों को हजम कर जाना चाहते हैं। चारणी, तुम जो गीत गा रही थी, उसमें राजपूत के जीवन

का मूल-मन्त्र प्रतिध्वनित हो रहा था। तुम्हारे इस गीत को सार्थक करने का समय मानो आ रहा है। चारणी, तुम हाड़ाओं के प्राणों की आग सुलगाओ।

चारणी—किन्तु मेरे लिए तो हाड़ा और गहलोत दोनों बराबर हैं।

राव हेमू—फिर न्याय और अन्याय तो देखना होता है। आज मेवाड़ का बूंदी पर कोप हुआ है। राजपूत की तलवार राजपूत के ही खून की प्यासी हुई है।

चारणी—सर्वनाश। महाकाल की जो मर्जी। वह भयंकर दुर्घटना भी कल्याणकारी सिद्ध हो।

(प्रस्थान)

अभयसिंह— तो मैं जाऊँ।

राव हेमू—आपकी इच्छा।

(दोनों का दो तरफ प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

●

दूसरा दृश्य

(स्थान—चित्तौड़ का राजमहल। महाराणा लाखा बहुत चिंतित और व्यथित अवस्था में कमरे में टहल रहे हैं।)

लाखा—मेवाड़ के गौरवपूर्ण इतिहास में मैंने कलंक का टीका लगाया है। यह बात नहीं कि सिसोदिया वंशीय ने कभी पराजय का मुख देखा ही नहीं लेकिन उनकी पराजय भी विजय से अधिक उज्ज्वल होती रही है। अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय की घटना इस बात का प्रबल प्रमाण है। किन्तु इस बार मुट्ठी भर हाड़ाओं ने हम लोगों को जिस प्रकार पराजित और विफल किया उससे मेवाड़ के

आत्म-गौरव को कितनी ठेस पहुँची है, यह मेरा ही अन्तःकरण जानता है।

(अभयसिंह का प्रवेश और महाराणा को अभिवादन करना)

अभयसिंह—महाराणा जी दरबार के सभासद आपके दर्शन पाने को उत्सुक हैं।

महाराणा—सेनापति अभयसिंह जी, आज मैं दरबार में नहीं जाऊँगा। आप जानते हैं कि जबसे हमें नीमेरा के मैदान में बूँदी के राव हेमू से पराजित होकर भाग आना पड़ा मेरी आत्मा मुझे धिक्कार रही है। बाप्पा रावल और वीरवर हमीर का रक्त जिसकी धमनियों में बह रहा हो वह प्राणों के भय से रणक्षेत्र से भाग आया, यह कितने कलंक की बात है।

अभयसिंह—किन्तु जरा-सी बात के लिए आप इतना अनुताप क्यों करते हैं महाराणा? हाड़ाओं ने रात के समय अचानक हमारे शिविर पर आक्रमण कर दिया। उस आकस्मिक धावे से घबड़ाकर हमारे सैनिक भाग खड़े हुए। आप तो तब भी प्राणों पर खेल कर राव हेमू से लोहा लेना चाहते थे, किन्तु हमी आपको वहाँ से खींच लाये। इसमें आपका क्या अपराध है। और इसमें मेवाड़ के गौरव में कमी आने का कौन सा कारण है।

महाराणा—जिनकी खाल मोटी होती है उनके लिए किसी भी बात में कोई भी अपयश कलंक या अपमान का कारण नहीं होता। किन्तु जो आन को प्राणों से बढ़कर समझते आये हैं, जिनका इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि अपमान भरे युग से आत्मसम्मानपूर्ण क्षण अधिक श्रेयस्कर है, जिनकी पच्चीस-पच्चीस हजार महिलाएँ देश और जाति की मानरक्षा के लिए एकबारगी जौहर की ज्वाला

में जलकर मरण को अमर कर गयीं हैं, वे पराजय का मुख देखकर भी जीवित रहे यह कैसी उपहासजनक बात है। सुना, अभयसिंहजी ! मैं अपने मस्तक के इस कलङ्क के टीके को धो डालना चाहता हूँ।

अभयसिंह—मेवाड़ के सैनिक आपकी आज्ञा पर प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत हैं।

महाराणा—उनके पुरुषार्थ की परीक्षा का दिन आ पहुंचा है। मैं महारावल बाप्पा का वंशज प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक बूंदी के दुर्ग में ससैन्य प्रवेश नहीं करूँगा अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। बूंदी के दुर्ग पर जब तक मेवाड़ की पताका नहीं फहरायेगी तब तक पानी की एक बूँद भी गले के नीचे उतारना मेरे लिए गोहत्या के समान है।

अभयसिंह—महाराणा ! छोटे से बूंदी दुर्ग को विजय करने के लिए इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करने की क्या आवश्यकता है ? बूंदी को उसकी धृष्टता के लिए दण्ड तो दिया जायगा, लेकिन हाड़ा लोग कितने वीर हैं, चौहानों का इतिहास उनके प्राणों को उत्तेजित करता रहता है, युद्ध करने में यम से भी वे नहीं डरते। वे यद्यपि संख्या में कम हैं, किन्तु अपने पहाड़ी प्रदेश में खूब सुरक्षित हैं। इसमें संदेह नहीं कि अन्तिम विजय हमारी होगी किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितने दिन लग जायेंगे। इसलिए ऐसी भीषण प्रतिज्ञा आप न करें। सम्पूर्ण मेवाड़ आपके इशारे पर मरने-जीने के लिए प्रस्तुत है। आपके प्राणों का मूल्य उसे स्वर्ग—सिंहासन से भी अधिक है, कुबेर के धन से भी ज्यादा है। आज की इस प्रतिज्ञा की बात सुनकर सब जगह अशान्ति के बादल छा जायेंगे और दो राजपूत वंशों में जो भयङ्कर वैमनस्य की ज्वाला जल उठेगी

वह बुझाये नहीं बुझेगी और उसका लाभ उठायेंगे विदेशी लोग। भारतीय सभ्यता के शत्रु ! इसलिए आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि आप मेवाड़ पर दया करके गहलोत वंश पर तरस खाकर राजपूत जाति के हित-साधन के लिए और भारतीय स्वतन्त्रता की मंगल-कामना के लिए अपनी इस कठोर प्रतिज्ञा को वापिस लें।

महाराणा—आप यह क्या कहते हैं सेनापति ! क्या कभी आपने सुना है सूर्यवंश में पैदा होने वाले पुरुष ने अपनी प्रतिज्ञा को वापिस लिया है ? महाराजा दशरथ का उदाहरण हम लोगों के सामने है—"प्राण जायँ, पर वचन न जाई", यह हमारे जीवन का मूल-मन्त्र है। जो तीर तरकस से निकलकर कमान पर चढ़कर छूट गया उसे बीच से ही नहीं लौटाया जा सकता। मेरी प्रतिज्ञा कठिनाई से पूरी होगी, यह मैं जानता हूँ और इस बात की हाल के युद्ध में पुष्टि भी हो चुकी है कि हाड़ा जाति वीरता में हम लोगों की अपेक्षा किसी प्रकार हीन नहीं है, फिर भी महाराणा लाखा की प्रतिज्ञा वास्तव में प्रतिज्ञा है, वह पूर्ण होनी चाहिए।

(नेपथ्य में गान)

तोड़ मोतियों की मत माला!
ये सागर से रत्न निकाले
युग-युग से हैं गये सँभाले।
इनसे दुनिया में उजियाला।
तोड़ मोतियों की मत माला।
ये छाती में छेद कराकर,
हुए एक हैं हृदय मिलाकर,
इनमें व्यर्थ भेद क्यों डाला?

तोड़ मोतियों की मत माला !

मां का नाम इसी माला से।
बच रे हृदय ! द्वेष-ज्वाला से।
करले पान प्रेम का प्याला।
तोड़ मोतियों की मत माला।

इन में कोई नहीं बड़ा है।
विधि ने इनको स्वयं गढ़ा है।
तू क्यों बनता हैं मतवाला ?
तोड़ मोतियों की मत माला।

(गातें-गाते चारणी का प्रवेश)

महाराणा—तुम गा रही थी चारणी ! तुम सम्पूर्ण राजस्थान की एकता की शृङ्खला में बाँधकर देश की स्वाधीनता के लिए कुछ करने का आदेश दे रही थी, किन्तु मैं उस शृङ्खला को तोड़ने जा रहा हूँ। दो आनेवाली जातियों में जानी दुश्मनी पैदा करने जा रहा हूँ।

चारणी—आप यह क्या कहते हैं महाराणा ! आप की विवेकशीलता पर सब को विश्वास है। जिस दिन सेनापति अभय सिंह बूंदी के राव के पास मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने का सन्देश लेकर पहुँचे थे, उसी दिन मैंने उन्हें सचेत किया था। उसके बाद जब मेवाड़ी सेना पराजित होकर लौट आयी तो मैंने समझ लिया कि मेवाड़ और बूंदी दोनों ही देशों पर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं। आज भी मैं आपसे अन्तिम अनुरोध करने आयी हूँ कि महाराणा समय के फेर से यद्यपि आज हाड़ा शक्ति और साधन में मेवाड़ के उन्नत राज्य से छोटे हैं फिर भी वे वीर हैं ! मेवाड़ को उसकी विपत्ति के

दिनों सहायता देते रहे हैं। यदि उनसे कोई धृष्टता बन पड़ी हो तो महाराणा उसे भूल जायें और राजपूत शक्तियों में स्नेह का सम्बन्ध बना रहने दें।

महाराणा—चारणी! तुम बहुत देर से आयी!

अभयसिंह—चारणी! महाराणा ने प्रतिज्ञा की है जब तक बूंदी के गढ़ को जीत न लेंगे वह अन्न-जल ग्रहण न करेंगे।

चारणी—दुर्भाग्य! (कुछ सोचकर) महाराणा, मैं ऐसा नहीं होने दूंगी। देश का कोई भी शुभचिन्तक इस विद्वेष की आग को फैलने देना पसन्द नहीं कर सकता।

अभयसिंह—किन्तु महाराणा की प्रतिज्ञा तो पूरी होनी ही चाहिये।

चारणी—उसका एक ही उपाय है, वह यह कि यहीं पर एक मिट्टी का नकली बूंदी का दुर्ग बनाया जाये। महाराणा उसका विध्वंस करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लें—महाराणा, क्या आप को मेरा प्रस्ताव स्वीकार है?

महाराणा—अच्छा अभी तो मैं नकली दुर्ग बनवा कर उसका विध्वंस करके अपने व्रत का पालन करूँगा। किन्तु हाड़ाओं को उनकी उद्दण्डता का दण्ड दिये बिना मेरे मन को सन्तोष न होगा। सेनापति नकली दुर्ग बनाने का प्रबन्ध करो।

(सब का प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

(चित्तौड़ के निकट एक जंगली प्रदेश में नकली दुर्ग का मुख्य दरवाजा। लाखा और सेनापति अभयसिंह का प्रवेश।)

अभयसिंह---आपने दुर्ग का निरीक्षण कर लिया। ठीक बन गया है न ?

महाराणा---क्यों न बनता ! निस्संदेह यह ठीक बूँदी-दुर्ग की हू-बहू नकल है। अच्छा अब इस पर चढ़ाई करने का खेल खेला जाये। इस मिट्टी के दुर्ग को मिट्टी में मिलाने में मेरी आत्मा को सन्तोष तो नहीं होगा, लेकिन अपमान की वेदना में, दर्प की तरंग में, प्रतिहिंसा के आवेग में, जो विवेकहीन प्रतिज्ञा मैंने कर डाली थी उससे छुटकारा तो मिल ही जायगा। उसके बाद फिर ठण्डे दिमाग से सोचना होगा कि बूँदी को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करने के लिए किस तरह बाध्य किया जाये। आज तक ऐसा नहीं हुआ कि मेवाड़ के महाराणाओं की मनोकामनाएँ पूरी हुए बिना रह गयी हों।

अभयसिंह---निश्चय ही महाराजा ! शीघ्र ही बूँदी के पठारों पर सीसोदियों का सिंहासन होगा। अच्छा अब हम लोग आज के रण की तैयारी करें।

महाराणा---किन्तु यह रण होगा किससे ? इस दुर्ग में कोई तो हमारा पथ-प्रतिरोध करनेवाला होना चाहिए।

अभयसिंह---हाँ, खेल में भी कुछ तो वास्तविकता आनी चाहिए। मैंने सोचा है दुर्ग के भीतर अपने ही कुछ सैनिक रख दिये जायेंगे जो बन्दूकों से हम पर छूछे वार करेंगे। कुछ घण्टे ऐसे ही खेल होगा और यह मिट्टी का दुर्ग मिट्टी में मिला दिया जायगा, अच्छा, अब हम चलें।

(दोनों का प्रस्थान और वीरसिंह का कुछ साथियों के साथ प्रवेश)

वीरसिंह—मेरे बहादुर साथियों, तुम देख रहे हो कि हमारे सामने यह कौन सी इमारत बनवायी गयी है।

पहला साथी—हाँ सरदार, यह हमारी जन्मभूमि बूंदी का दुर्ग है।

वीरसिंह—और तुम जानते हो कि महाराणा आज इस गढ़ को जीत कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। किन्तु क्या हम लोग अपनी जन्मभूमि का अपमान होने देंगे? यह हमारे वंश के मान का मंदिर है। क्या हम इसे मिट्टी में मिलने देंगे?

दूसरा साथी—किन्तु यह नकली बूंदी है।

वीरसिंह—धिक्कार है तुम्हें! नकली बूंदी भी हमें प्राणों से अधिक प्रिय है महाराणा ने सोचा होगा, यहाँ से बूंदी साठ कोस दूर है। बूंदी के राव को उनको इस अपमान का पता भी नहीं लग पायेगा। सीसोदिया सैनिक खिलौने की तरह इस मिट्टी के गढ़ को मिट्टी में मिला देंगे। किन्तु जिस जगह एक भी हाड़ा है वहाँ बूंदी का अपमान आसानी से नहीं किया जा सकता। आज महाराणा आश्चर्य के साथ देखेंगे कि यह खेल केवल खेल नहीं रहेगा, यहाँ की चप्पा-चप्पा भूमि सीसोदिया और हाड़ाओं के खून से लाल हो जायगी।

तीसरा साथी—लेकिन सरदार, हम लोग महाराणा के नौकर हैं। क्या महाराणा के विरुद्ध तलवार उठाना हमारे लिये उचित है। हमारा हाड़-मांस महाराणा के नमक से बना है। हमें इनकी इच्छा में व्याघात क्यों पहुँचाना चाहिए।

वीरसिंह—और जिस जन्मभूमि की धूल में खेलकर हम बड़े हुए

हैं उसका अपमान भी कैसे सहन किया जा सकता है ? हम महाराणा के नौकर हैं तो हमने अपनी आत्मा भी उन्हें बेच दी है, जब कभी मेवाड़ की स्वतन्त्रता पर आक्रमण हुआ है, हमारी तलवार ने उनके नमक का बदला दिया है और जब तक इन हाथों में तलवार पकड़ने की शक्ति रहेगी वे मेवाड़ की मान-रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहेंगे, लेकिन जब मेवाड़ और बूँदी के मान का प्रश्न आयेगा, हम मेवाड़ की दी हुई तलवारें, महाराणा के चरणों पर रखकर विदा ले लेंगे और बूँदी की ओर अपने प्राणों की बलि देंगे आज ऐसा ही अवसर आ पड़ा है ।

पहला साथी—निश्चय ही जहाँ पर बूँदी है वहाँ पर हाड़ा है और जहाँ पर हाड़ा है वहाँ पर बूँदी है । कोई नकली बूँदी का भी अपमान नहीं कर सकता । जन्मभूमि हमें प्राणों से भी अधिक प्रिय है । हाड़ा वंश फौलाद से बना है ? आज महाराणा को इन मिट्टी की दीवारों का सामना नहीं करना पड़ेगा, बल्कि हाड़ाओं की वज्र देह का सामना करना पड़ेगा ।

वीरसिंह—निश्चय ही । हम लोग संख्या में बहुत थोड़े हैं और हमारे पास तोपों का मुकाबला करने के लिए उपयुक्त साधन भी नहीं हैं हमारे पास केवल प्राण हैं और उन प्राणों को जन्मभूमि की मान-रक्षा के लिए चढ़ा देने की अदम्य चाह है । संसार देखेगा कि हम अग्नि की सन्तान अपने प्राणों में कितनी आग लिये हुए हैं । हम बुझते हुए दीपक की तरह भभक कर अन्धकार में मिल जायेंगे, हम बिजली की तरह कड़ककर, चमककर, आकाश का हृदय चीरते हुए पृथ्वी के अन्तराल में अपनी स्मृति की दरार को छोड़कर अन्तर्ध्यान हो जायेंगे । अच्छा ! अपनी जन्मभूमि को प्रणाम करो ।

(सब दुर्ग के द्वार पर मस्तक झुकाते हैं)

वीरसिंह—मेरे वीरों, तुम अग्नि-कुल के अंगारे हो । अपने वंश

की आभा को क्षीण न होने देना। प्रतिज्ञा करो कि प्राणों के रहते हम इस नकली दुर्ग पर मेवाड़ की राज पताका को स्थापित न होने देंगे।

सब लोग—हम प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणों के रहते इस दुर्ग पर मेवाड़ की ध्वजा न फहराने देंगे।

वीरसिंह—मुझे आप लोगों पर अभिमान है और बूंदी आप-जैसे पुत्रों को पाकर फूली नहीं समाती। यह नकली बूंदी भी हमारे भावी बलिदान को कल्पना की आँखों से देखकर मुस्करा रही है और जिस बूंदी से ऐसे मान के धनी पैदा होते हैं, उस पर संसार आशीर्वाद के फूल बरसा रहा है, चलो हम दुर्ग-रक्षा की तैयारी करें।

(सबका प्रस्थान)

(पट-परिवर्तन)

चौथा दृश्य

[स्थान—नकली बूंदी, दुर्ग का बन्द द्वार। महाराणा लाखा और अभयसिंह का प्रवेश।]

महाराणा—सूर्य डूबने को आया। नकली दुर्ग के आस-पास की भूमि वैसे ही लाल हो उठी है, जैसा कि आकाश का पश्चिम छोर हो रहा है। कैसी लज्जा की बात है कि हमारी सेना नकली बूंदी के दुर्ग पर अपना झण्डा स्थापित करने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकी? वीरसिंह और इसके मुट्ठी भर साथी तक वीरतापूर्वक लड़ रहे हैं।

अभयसिंह—हाँ महाराणा, हम तो समझते थे कि दो घड़ी

में यह खेल खतम हो जायगा लेकिन हमें आशा के विरुद्ध छूंछे वारों का मुकाबला करने के बजाय, हाड़ाओं के अचूक निशानों का सामना करना पड़ा। यद्यपि ये लोग गिनती में थोड़े हैं किन्तु इन्होंने दीवारों की आड़ में उपयुक्त स्थान बनाकर हम पर गोली, तीर बरसाना प्रारम्भ कर दिया। हमारी सेना इन अयाचित अचिन्तित और आकस्मिक प्रहारों से भौचक्की हो गयी। अब दुर्ग के भीतर के हाड़ाओं की युद्ध-सामग्री समाप्त हो गयी आपकी प्रतिज्ञा पूरी होने में कुछ ही क्षणों का विलम्ब है। दुर्ग की दीवारों में जहाँ-तहाँ छेद हो गये हैं और वे धरा-शायी होने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

महाराणा—यह भी अच्छा ही हुआ कि हमारे इस खेल में भी कुछ वास्तविकता आ गयी। यदि हमें बिना कुछ पराक्रम दिखाये ही दुर्ग पर झण्डा फहराने का अवसर मिल जाता, तो मुझे जरा भी संतोष न होता और मुझे तो वीरसिंह की वीरता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं चाहता था, ऐसे वीर के प्राणों की किसी प्रकार रक्षा हो सकती।

अभयसिंह—मैंने भी जब दुर्ग से अग्नि वर्षा होते देखी तब मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था और कुछ क्षणों के लिए सफेद झण्डी फहरा कर युद्ध रोक दिया था। उसके पश्चात् मैं स्वयं दुर्ग में गया और वीरसिंह की, उनके साहस के लिए प्रशंसा की। साथ ही सबसे अनुरोध किया कि तुम इस व्यर्थ प्रयास में अपने प्राण न खोओ। तुम महाराणा के नौकर हो तुम्हें उनके विरुद्ध हथियार न उठाना चाहिए। किन्तु उसने उत्तर दिया कि महाराणा ने हाड़ाओं को चुनौती दी है। हम उस चुनौती का उत्तर देने को मजबूर हैं। या तो जन्मभूमि और कुल के मान की रक्षा में प्राणों की बलि हमें देनी होगी, या महाराणा

को इस विवेकहीन प्रतिज्ञा से विमुख होना पड़ेगा। अब तीसरा कोई रास्ता नहीं। महाराणा यदि हमारे प्राण लेना चाहते हैं तो खुशी से ले लें। लेकिन हम इतने कायर, निर्लज्ज और निष्प्राण नहीं हैं कि अपनी आँखों से बूँदी का अपमान होते हुए देखें। मेवाड़ में जब तक एक भी हाड़ा है, नकली बूँदी को ही पताका फहरायेगी।

महाराणा---निश्चय ही इन वीरों का जन्म-भूमि के प्रति आदर-भाव सराहनीय है। यह मैं जानता हूँ कि इन लोगों के प्राणों की रक्षा करने का कोई उपाय नहीं। इतने बहुमूल्य प्राण लेकर भी मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी पड़ेगी यह देखो, दुर्ग की उस दरार में खड़ा हुआ वीरसिंह कितनी फुर्ती से बाण वर्षा कर रहा है। अकेला ही हमारे सैकड़ों सैनिकों की टोली को आगे बढ़ने से रोके हुए हैं! धन्य हैं ऐसे वीर! वह माँ जिसने ऐसे वीर पुत्र को जन्म दिया है। धन्य है वह भूमि, जहाँ पर ऐसे सिंह पैदा होते हैं।

(नेपथ्य में गान)

यह देखो नभ मुसकाता है।
चले गये माँ के दीवाने
स्वर्ग-लोक में राज्य जमाने।
जग गाता है उनके गाने,
जो निज शीश चढ़ाता है।

जिसकी तलवारों का पानी-
लिखता है उन्मत्त कहानी,
उसकी होती अमर जवानी-
जो माँ पर मिट जाता है।

वह देखो नभ मुसकाता है !

चले गये जिनको था जाना,
लगा हुआ है आना-जाना,
मर जाना भी अमर बनाना-
विरला ही सिखलाता है।
वह देखो नभ मुसकाता।

(जोर का धमाका और प्रकाश होता है)

महाराणा—वह देखो अभयसिंह, गोले के वार से वीरसिंह के प्राण पखेरू उड़ गये, बूंदी के मतवाले सिपाही सदा के लिए सो गये। अब हम विजय-श्री प्राप्त कर सके। जाओ, दुर्ग पर मेवाड़ की पताका फहराओ और वीरसिंह के शव को आदर के साथ यहाँ पहुँचाओ !

(अभयसिंह का प्रस्थान)

महाराणा—आज इस विजय में मेरी सबसे बड़ी पराजय छिपी हुई है; व्यर्थ के दम्भ ने आज कितने निर्दोष प्राणों की बलि ले ली।

(गाते-गाते चारणी का प्रवेश)

चारणी—देखो वह नभ मुसकाता है ! महाराणा ! अब तो आप की आत्मा को शान्ति मिल गयी होगी। अब तो आपने अपने सर से कलंक का टीका धो लिया। वह देखो बूंदी के दुर्ग पर मेवाड़ के सेनापति विजय पताका फहरा रहे हैं। वह सुनिए मेवाड़ की सेना में विजय-दुन्दुभी बज रही है।

महाराणा—चारणी ! क्यों इस पश्चात्ताप से विकल प्राणों को तुम और दुःखी करती हो ? जाने किस बुरी साइत में मैंने बूंदी को अपने अधीन करने का निश्चय किया था और अपने उस निश्चय को वहीं क्यों न समाप्त कर दिया जहाँ पर मेवाड़ी सेना बूंदी सेना से

पराजित होकर वापस लौट आयी थी। वीरसिंह की वीरता मेरे हृदय के द्वार खोल दिये हैं, मेरी आँखों का परदा हटा दिया है। मैं देखता हूँ कि वीर-जाति को अधीन करने की अभिलाषा करना पागलपन है। वैसा ही पागलपन जैसा कि अलाउद्दीन खिलजी का मेवाड़ियों को अपना गुलाम बनाने की लालसा में था।

चारणी—तो क्या महाराणा, इस नकली दुर्ग की आश्चर्यजनक भूतपूर्व स्वर्ण-घटना के बाद भी मेवाड़ और बूँदी के हृदय मिलाने का कोई रास्ता नहीं निकल सकता ?

(वीरसिंह के शव के साथ अभयसिंह का प्रवेश, शव को रखकर सब उठाने वाले चले जाते हैं।)

महाराणा—चारणी इस शहीद के चरणों के पास बैठकर (शव के पास बैठते हैं।) अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ किन्तु क्या बूँदी से राव तथा हाड़ावंश का प्रत्येक राजपूत आज की इस दुर्घटना को भूल सकेगा ?

(राव हेमू का प्रवेश)

राव हेमू—क्यों नहीं महाराणा ! हम युग-युग से एक हैं और एक रहेंगे। आपको यह जानने की आवश्यकता थी कि राजपूतों में न कोई राजा है, न कोई महाराजा है। हम देश, जाति और वंश की मान-रक्षा के लिए प्राण देनेवाले सिपाही हैं। हमारी तलवार अपने ही स्वजनों पर न उठनी चाहिए। बूंदी के हाड़ा सुख और दुःख में सदा से चित्तौड़ के सीसोदियों के साथ रहे हैं और रहेंगे। हम सब राजपूत अग्नि के पुत्र हैं, हम सब के हृदय में एक ही ज्वाला जल रही है। हम कैसे एक दूसरे से पृथक् हो सकते हैं। वीरसिंह के बलिदान ने हमें जन्मभूमि का मान करना सिखाया है।

महाराणा—निश्चय ही महाराज ! हम सम्पूर्ण राजपूत जाति की ओर से इस अमर आत्मा के आगे अपना मस्तक झुकायें ।

(सब बैठकर वीरसिंह के आगे मस्तक झुकाते हैं)

(पटाक्षेप)

●

शब्दार्थ

सीसोदिया-वंश—चित्तौड़ का राजवंश जिसका आरम्भ बाप्पारावल से हुआ । तीन-तेरह—तितर-बितर, अस्त-व्यस्त । अनुगत—अधीन, अनुगामी । हाड़ा—क्षत्रियों की एक शाखा । नाज—अभिमान । दृष्टिदोष—देखने की गलती, आँख से न दिखायी पड़ने का रोग । अग्निपुत्र—क्षत्रिय; प्रसिद्ध है कि यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति हुई थी । अभिसंधि—समझौता, मन्त्रणा । गहलोत—चित्तौड़ या उदयपुर के राजवंश को उसके पूर्व पुरुष गहलोत के नाम पर गहलोत वंश भी कहते हैं । अनुताप—पछतावा, क्षोभ । जौहर—दहकती हुई विशाल चिता जिसमें शत्रु की विजय निश्चित जानकर राजपूत की स्त्रियाँ अपने सम्मान की रक्षा के लिए कूदकर जल मरती थीं । तरस खाकर—दया करके । उद्दण्डता—घमण्ड, अकड़पन । दर्प की तरंग—स्वाभिमान की भावना में । प्रतिहिंसा के आवेग में—बदला लेने की उतावली में । फौलाद—मजबूत लोहा । अदम्य—प्रबल । अयाचित—न चाहा हुआ । दीवाने—निछावर होनेवाले । विरले—बहुतों में से कोई एक ।

ये चार सांस्कृतिक एकांकी

श्री विक्रमादित्य

विक्रमादित्य भारत के एक बहुत ही लोकप्रिय सम्राट् हुए हैं! उनके शौर्य, दृढ़ता, दूरदर्शिता एवं दूध पानी को अलग कर देनेवाले न्याय की एक झलक इस एकांकी में है। शक-राजकुमार भूमक छद्मवेश से इनके राज्य में रह रहा था, लेकिन वह अपने को छिपा न सका और अन्त में स्त्री-वेश धारण कर भाग निकलने का कुचक्र रचा, जिसमें उसे असफल होकर सम्राट् के सामने नत मस्तक होना पड़ा। नाटक कथा की इतनी ही है। डॉ० वर्मा ने इस एकांकी में कला और भाव दोनों का सफल चित्रण किया है।

सच्चा-धर्म
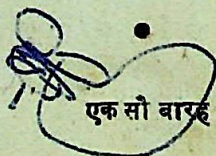
यह एकांकी मानवधर्म अथवा राष्ट्रधर्म और व्यक्तिधर्म का द्वन्द्व-चित्र है। पुरुषोत्तमराव के सामने यह समस्या है कि वह या तो शिवाजी द्वारा अपने पास सौंपे गये उनके पुत्र सम्भाजी की औरंगजेब से रक्षा करें, या अपने जैसे ब्राह्मण के आचार-धर्म की रक्षा करें। दोनों चीजें एक साथ नहीं हो सकती। शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को भानजा कहकर अपनी थाली में खिलाने से उसका ब्राह्मणत्व नष्ट होता है, न खिलाने पर शरण में रखे हुए की रक्षा नहीं हो पाती। सेठ गोविन्ददास जी ने इस द्वन्द्व भावना का इस नाटक में सुन्दर चित्र खींचा है और अन्त में राष्ट्रधर्म की जीत दिखायी है।

कुमार-सम्भव

कहा जाता है कि विश्व-विख्यात कवि कालिदास ने अपना 'कुमार-सम्भव' महाकाव्य आठ सर्ग तक ही लिखा था, भट्ट जी ने अपने एकांकी में इस किंवदन्ती का रहस्य उद्घाटन किया है और यह स्पष्ट किया है कि 'सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' के कुमार-जन्मोत्सव में इस महाकाव्य की रचना हुई थी, यही इस एकांकी की कथावस्तु है। पौराणिक नाटककार श्री उदयशङ्कर भट्ट ने एक विशिष्ट शैली से कालिदास के रूप में कवि की महिमा और व्यक्तित्व का उत्कृष्ट चित्रण किया।

मान-मन्दिर

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' मुगलकालीन इतिहास के सफल नाटककार हैं। इन्होंने इस एकांकी में देशप्रेम पर निछावर होनेवाले राजपूतों के जातीय स्वाभिमान की एक अलौकिक झाँकी उपस्थित की है। चित्तौड़ के महाराणा को अपने बीते गौरव का मोह है और बूँदी के हाड़ा क्षत्रियों को अपना स्वाभिमान सबसे अधिक प्रिय है। इसलिये जब राणा बूँदी का नकली दुर्ग बनाकर उसे विजय करने का स्वांग रचते हैं तो उनके ही आश्रित रहनेवाले हाड़ा क्षत्रिय वीरसिंह से अपनी जन्मभूमि का यह अपमान सहन नहीं होता और वह अपने मुट्ठी भर, साथियों के साथ प्राणपण से नकली बूँदी की रक्षा करता है। एकांकी अन्त में राव हेमू के प्रवेश और उसके देश-प्रेम सम्बन्धी उद्गारों से बहुत प्रभावशाली हो गया।

मूल्य—

दो रुपये पचीस पैसे मात्र